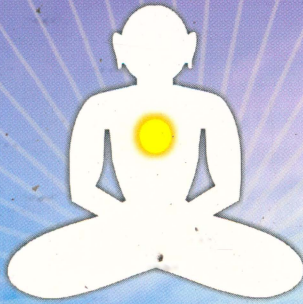
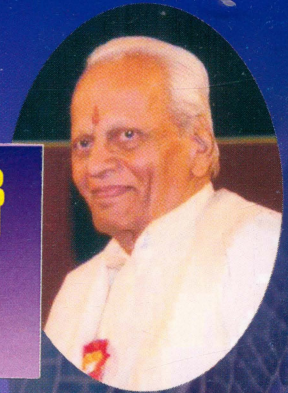


प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला- 57

डॉ. सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग- 5

प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य के जैन ग्रन्थों
की भूमिकाओं से सम्बन्धित जैन आलेख



डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

समर्पण



प. पू. मालव सिंहनी
श्री वल्लभकुंवरजी म.सा.



प. पू. सेवामूर्ति
श्री पानकुंवरजी म.सा.



प. पू. सुप्रसिद्ध व्याख्यात्री
श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा.



प. पू. अध्यात्म रसिका
श्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.

प्राच्य विद्यापीठ ग्रंथमाला क्रमांक

सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग - ५

प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य के जैन ग्रंथों की भूमिकाओं से सम्बन्धित आलेख



लेखक

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग -३

प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य के जैन ग्रंथों की
भूमिकाओं से सम्बन्धित आलेख

- लेखक : डॉ. प्रो. सागरमल जैन
- प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर (म.प्र.)
फोन नं. 07364 - 222218
email - sagarmal.jain@gmail.com
- प्रकाशन वर्ष : २०१४-१५
- कापीराइट : लेखक डॉ. सागरमल जैन
- मूल्य : रुपए २००/-
- सम्पूर्ण सेट
(लगभग २५ भाग) : ५०००/-
- मुद्रक : छाजेड़ प्रिन्टरी प्रा. लि.
१०८, स्टेशन रोड, रतलाम (म. प्र.)

पुण्य स्मृति



स्व. श्रीमती कमलाबाई जैन

पतिन : डॉ. सागरमल जी जैन

जन्म : मार्च 1934, फाल्गुन पूर्णिमा

देहविलय : दि. 8 अक्टूबर 2014, शरद पूर्णिमा

प्रकाशकीय

डॉ. सागरमल जैन जैन विद्या एवं भारतीय विद्याओं के बहुश्रुत विद्वान हैं। उनके विचार एवं आलेख विगत ५० वर्षों से यत्रतत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी के विभिन्न ग्रंथों की भूमिकाओं के रूप में प्रकाशित होते रहे हैं। उन सबको एकत्रित कर प्रकाशित करने के प्रयास भी अल्प ही हुए हैं। प्रथमतः उनके लगभग १०० आलेख सागरमल जैन अभिनंदन ग्रंथ में और लगभग १२० आलेख - श्रमण के विशेषांकों के रूप में 'सागर जैन विद्या भारती' में अथवा 'जैन धर्म एवं संस्कृति' के नाम से सात भागों में प्रकाशित हुए हैं। किंतु डॉ. जैन के लेखों की संख्या ही ३२० से अधिक हैं। साथ ही उन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत तथा जैन धर्म और संस्कृति से सम्बंधित अनेक ग्रंथ की विस्तृत भूमिकाएं भी लिखी हैं। उनका यह समस्त लेखन प्रकीर्ण रूप से बिखरा पड़ा है। विषयानुरूप उसका संकलन भी नहीं हुआ है, उनके अनेक ग्रंथ भी अब पुनः प्रकाशन की अपेक्षा रख रहे हैं, किंतु छह-सात हजार पृष्ठों की इस विपुल सामग्री को समाहित कर प्रकाशित करना हमारे लिए सम्भव नहीं था- साध्वीवर्या सौम्यगुणा श्री जी का सुझाव रहा कि प्रथम क्रम में उनके वीकीर्ण आलेखों को ही एक स्थान पर एकत्रित कर प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाए। उनकी यह प्रेरणा हमारे लिए मार्गदर्शक बनी और हमने डॉ. सागरमल जैन के आलेखों को संग्रहित करने का प्रयत्न किया। कार्य बहुत विशाल है, किंतु जितना सहज रूप से प्राप्त हो सकेगा- उतना ही प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाएगा। अनेक प्राचीन पत्र-पत्रिकाएं पहले हाथ से ही कम्पोज होकर प्रिंट होती थी, साथ ही वे विभिन्न आकारों और विविध प्रकार के अक्षरों से मुद्रित होती थी, उन सब को एक साइज में और एक ही फॉण्ट में प्रकाशित करना भी कठिन था- अतः उनको पुनः प्रकाशित करने हेतु उनका पुनः टंकण एवं प्रुफरीडिंग आवश्यक था। हमारे पुनः टंकण के कार्य में सहयोग किया श्री दिलीप नागर ने एवं प्रुफ संशोधन के कार्य में सहयोग किया- श्री चैतन्य जी सोनी एवं श्री नरेन्द्र जी गौड़ हम इनके एवं मुद्रांक आकृति ऑफसेट उज्जैन के साथ-साथ इन सभी के आभारी हैं।

नरेंद्र जैन

एवं ट्रस्ट मण्डल प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

विषय सूची : भाग - ५

प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य के जैन ग्रंथों की भूमिकाओं से सम्बन्धित आलेख

१.	आचारांगसूत्र की भूमिका	५
२.	जीवसमास की भूमिका	२१
३.	वसुदेवहिण्डी की भूमिका	५४
४.	पउमचरियं की भूमिका	६१
५.	पंचाशक प्रकरण की भूमिका	८०
६.	श्रावकधर्म की विधिप्रकरण की भूमिका	१२२
७.	प्रवचनसारोद्धार की भूमिका	१३०
८.	तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका	१५७
९.	अध्यात्मवाद की भूमिका	१७०
१०.	आचार दिनकर की भूमिका	१९२

आचारांगसूत्र की भूमिका (ई.पू. चौथी शती)

आचारांगसूत्र जैन-आगम साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रंथ है, यह यद्यपि अर्धमागधी में लिखा गया प्राचीनतम ग्रंथ है, किंतु इसके प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कंध की भाषा एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न है। जहां प्रथम श्रुतस्कंध में अर्धमागधी का प्राचीनतम रूप परिलक्षित होता है, वहां द्वितीय श्रुतस्कंध प्रथम श्रुतस्कंध की अपेक्षा भाषा की दृष्टि से परवर्ती और विकसित लगता है, यद्यपि आचारांग मूलतः अर्धमागधी प्राकृत का ग्रंथ है, किंतु उस पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव आ गया है, फिर भी प्रथम श्रुतस्कंध में यह प्रभाव नगण्य ही है। मेरी दृष्टि में इस प्रभाव का कारण मूलतः एक लम्बी अवधि तक इसका मौखिक बना रहना है। यह भी सम्भव है कि जो अंश स्पष्ट रूप से और सम्पूर्ण रूप से महाराष्ट्री के हैं, वे बाद में जोड़े गए हों। यद्यपि इस सम्बंध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कह पाना कठिन है, फिर भी भाषा सम्बंधी इस प्रभाव का कारण उपर्युक्त दोनों विकल्पों में से ही है। प्रथम श्रुतस्कंध मूलतः औपनिषदिक सूत्रात्मक शैली में लिखा गया है, जबकि दूसरा मुख्य रूप से विवरणात्मक और पद्यरूप में है। प्रथम श्रुतस्कंध की जो भाषा है, वह गद्य और पद्य दोनों से भिन्न है, यद्यपि प्रथम श्रुतस्कंध में भी पद्य कुछ आ गए हैं, फिर भी उसकी सूत्रात्मक शैली दूसरे श्रुतस्कंध की शैली से भिन्न है। हमें तो ऐसा लगता है कि प्राकृत ग्रंथों की रचना में सर्वप्रथम आचारांग की प्रथम श्रुतस्कंध की सूत्रात्मक शैली का विकास हुआ, फिर सहज पद्य लिखे जाने लगे, फिर उसके बाद विकसित स्तर के गद्य लिखे गए। भाषा और शैली के विकास की दृष्टि से आचारांग के दोनों श्रुतस्कंधों में लगभग तीन शताब्दियों का अंतर तो अवश्य रहा होगा। आचारांग में आचार के सिद्धांतों और नियमों के लिए जिस मनोवैज्ञानिक आधारभूमि और मनोवैज्ञानिक दृष्टि को अपनाया गया है, वह तुलनात्मक अध्ययन के लिए अद्भुत आकर्षण का विषय है।

आचारांगसूत्र का प्रतिपाद्य विषय श्रमण-आचार का सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष है। चूंकि मानवीय आचार मन और बुद्धि से निकट रूप से जुड़ा हुआ है, अतः यह स्वाभाविक है कि आचार के सम्बंध में कोई भी प्रामाणिक चिंतन मनोवैज्ञानिक सत्यों को नकार कर आगे नहीं बढ़ सकता है। हमें क्या होना चाहिए- यह बहुत कुछ इस बात पर

निर्भर करता है कि हम क्या हैं और क्या हो सकते हैं? हमारी क्षमताएं एवं सम्भावनाएं क्या हैं? आचरण के किसी साध्य और सिद्धांत का निर्धारण साधक की मनोवैज्ञानिक प्रकृति को समझे बिना सम्भव नहीं है। हमें यह देखना है कि आचारांग में आचार के सिद्धांतों एवं नियमों के प्रतिपादन में किस सीमा तक इस दार्शनिक मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि का परिचय दिया गया है।

अस्तित्व सम्बंधी जिज्ञासा : मानवीय बुद्धि का प्रथम प्रश्न

आचारांगसूत्र के उत्थान में ही हमें उसकी दार्शनिक दृष्टि का परिचय मिल जाता है। सूत्र का प्रारम्भ ही अस्तित्व सम्बंधी मानवीय जिज्ञासा से होता है। पहला ही प्रश्न है-

अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि में आया उववाइए ।

के अहं आसी के वा इओ चुओ इहपेच्चा भविस्सामि ॥

-१।१।१।३

इस जीवन के पूर्व मेरा अस्तित्व था, या नहीं अथवा इस जीवन के पश्चात् मेरी सत्ता बनी रहेगी या नहीं? मैं क्या था और मृत्यु के उपरांत किस रूप में होऊंगा? यही अपने अस्तित्व का प्रश्न मानवीय जिज्ञासा और मानवीय बुद्धि का प्रथम प्रश्न है, जिसे सूत्रकार ने सर्वप्रथम उठाया है। मनुष्य के लिए मूलभूत प्रश्न अपने अस्तित्व या सत्ता का ही है। धार्मिक एवं नैतिक चेतना का विकास भी इसी अस्तित्व-बोध या स्वरूप-बोध पर आधारित है। मनुष्य की जीवन दृष्टि क्या और कैसी होगी, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि अपने अस्तित्व, अपनी सत्ता और स्वरूप के प्रति उसका दृष्टिकोण क्या है? पाप और पुण्य अथवा धर्म और अधर्म की सारी मान्यताएं अस्तित्व की धारणा पर ही खड़ी हुई हैं। इसीलिए सूत्रकार ने कहा है कि जो इस 'अस्तित्व' या स्व-सत्ता को जान लेता है वही आत्मवादी है, लोकवादी है, कर्मवादी है और क्रियावादी है। (सोहं से आयावाई लोगावाई कम्मवाई किरियावाई- १।१।१।४-५) व्यक्ति के लिए मूलभूत और सारभूत तत्त्व उसका अपना अस्तित्व ही है और सत्ता या अस्तित्व के इस मूलभूत प्रश्न को उठाकर ग्रंथकार ने अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है। आधुनिक मनोविज्ञान में भी जिजीविषा और जिज्ञासा मानव की मूल प्रवृत्तियां मानी गई हैं।

सत्य की खोज में संदेह (दार्शनिक जिज्ञासा) का स्थान

यह कितना आश्चर्य है कि आचारांग श्रद्धा के स्थान पर संशय को सत्य की

खोज का एक आवश्यक चरण मानता है। सम्भवतया ऐसा प्रतीत होता है कि जैनधर्म के आरम्भिक काल में श्रद्धा का तत्त्व इतना प्रमुख नहीं था। आचारांग में 'णिक्खित्तदंडाणं समाहियाणं पन्नाणमंताणं इह मुत्ति मग्गं' (१।६।१) कहकर समाधि एवं प्रज्ञा के रूप में जिस मुक्ति मार्ग का विधान हुआ है, वह स्वयं इस बात का संकेत करता है कि उस समय तक दर्शन या सम्यग् दर्शन शब्द श्रद्धा का सूचक नहीं था। यद्यपि आचारांग में दंसण और सम्मत-दंसी शब्दों का प्रयोग देखा जाता है, किंतु मेरी दृष्टि में कहीं भी इसका प्रयोग श्रद्धा के अर्थ में नहीं हुआ है। अधिक से अधिक ये शब्द 'दृष्टिकोण' या 'सिद्धांत' के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे- एयं पासगस्स दंसणं (१।३।४)। वस्तुतः, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी भी धार्मिक आंदोलन में श्रद्धा का तत्त्व उसके परवर्ती युग में जबकि वह कुछ विचारों एवं मान्यताओं से आबद्ध हो जाता है, अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। आचारांग में संशय का जो स्थान स्वीकार किया गया है, वह दार्शनिक दृष्टि से काफी उपयोगी है। मानवीय जिज्ञासावृत्ति को महत्त्व देते हुए तो यहां तक कहा गया है कि 'संशय परिआगओ संसारे परिन्नये (१।५।१)'; अर्थात् संशय के ज्ञान से ही संसार का ज्ञान होता है। आज समस्त वैज्ञानिक ज्ञान के विकास में संशय (जिज्ञासा) की पद्धति को आवश्यक माना गया है। संशय की पद्धति को आज एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में मान्यता प्राप्त है। ज्ञान के क्षेत्र में प्रगति का यही एकमात्र मार्ग है, जिसे सूत्रकार ने पूरी तरह समझा है। ज्ञान के विकास की यात्रा संदेह (जिज्ञासा) से ही प्रारम्भ होती है, क्योंकि संशय के स्थान पर श्रद्धा आ गई, तो विचार का द्वार बंद हो जाएगा, वहां ज्ञान की प्रगति कैसे होगी? संशय विचार के द्वार को उद्घाटित करता है। विचार या चिंतन से विवेक जागृत होता है, ज्ञान के नए आयाम प्रकट होने लगते हैं। आचारांग ज्ञान की विकास यात्रा के मूल में संदेह को स्वीकार करके चलता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जो यात्रा संदेह से प्रारम्भ होती है, अंत में श्रद्धा तक पहुंच जाती है। अपना समाधान पाने पर संदेह की परिणति श्रद्धा में हो सकती है। इससे ठीक विपरीत समाधान-रहित अंधश्रद्धा की परिणति संदेह में होगी। जो संदेह से चलेगा अंत में सत्य को पाकर श्रद्धा तक पहुंच जाएगा, जबकि जो श्रद्धा से प्रारम्भ करेगा, वह या तो आगे कोई प्रगति ही नहीं करेगा या फिर उसकी श्रद्धा खण्डित होकर संदेह में परिणत हो जाएगी। यह है आचारांग की दार्शनिक दृष्टि का परिचय।

आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण

आत्मा के स्वरूप या स्वभाव का विवेचन करते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से कहा

है- जे आया से विनाया, जे विनाया से आया। जेण वियाणइ से आया। तं पडुच्च पडिसंखाये- १।५।५। इस प्रकार, वह ज्ञान को आत्म-स्वभाव या आत्म-स्वरूप बताता है। जहां आधुनिक मनोविज्ञान चेतना के ज्ञान, अनुभूति और संकल्प ऐसे तीन लक्षण बताता है, वहां आचारांग केवल आत्मा के ज्ञान लक्षण पर बल देता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर यहीं दोनों में अंतर प्रतीत होता है, किंतु अनुभूति (वेदना) और संकल्प यह दोनों लक्षण शरीराश्रित बद्धात्मा के हैं, अतः ज्ञान ही प्रथम लक्षण सिद्ध होता है। जैसे आचारांगसूत्र में तथा परवर्ती जैन ग्रंथों में भी मनोविज्ञान सम्मत इन तीनों लक्षणों को देखा जा सकता है, फिर भी आचारांगसूत्र का आत्मा के विज्ञाता स्वरूप पर बल देने का एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक कारण है, क्योंकि आत्मा की अनुभूत्यात्मक एवं संकल्पात्मक अवस्था में पूर्णतः समभाव या समाधि की उपलब्धि सम्भव नहीं है, जब तक सुख-दुखात्मक वेदना की अनुभूति है या संकल्प-विकल्प का चक्र चल रहा है, आत्मा परभाव में स्थित होता है, चित्त समाधि नहीं रहती है। आत्मा का स्वरूप या स्वभाव धर्म तो समता है, जो केवल उसके ज्ञाता-द्रष्टा रूप में स्वरूपतः उपलब्ध होती है। वेदक और कर्ता रूप में वह स्वरूपतः उपलब्ध नहीं है।

मन का ज्ञान साधना का प्रथम चरण

निर्ग्रंथ साधक के लक्षणों का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहता है - जे मणं परिजाणई से निगंथे जे मणे अपावए- २।१५।४५। जो मन जानता है और उसे अपवित्र नहीं होने देता है, वही निर्ग्रंथ है, इस प्रकार, निर्ग्रंथ श्रमण की साधना का प्रथम चरण है, मन को जानना और दूसरा चरण है, मन को अपवित्र नहीं होने देना। मन की शुद्धि भी स्वयं मनोवृत्तियों के ज्ञान पर निर्भर है। मन को जानने का मतलब है, अंदर झांककर अपनी मनोवृत्तियों को पहचानना, मन की ग्रंथियों को खोजना, यही साधना का प्रथम चरण है। रोग का ज्ञान और उसका निदान उससे छुटकारा पाने के लिए आवश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान की मनोविश्लेषण विधि में भी मनोग्रंथियों से मुक्त होने के लिए उनका जानना आवश्यक माना गया है। अंतर्दर्शन और मनोविश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान की महत्त्वपूर्ण विधियां हैं, आचारांग में उन्हें निर्ग्रंथ साधना का प्रथम चरण बताया गया है। वस्तुतः, आचारांग की साधना अप्रमत्तता की साधना है और यह अप्रमत्तता अपनी चित्त-वृत्तियों के प्रति सतत जागरूकता है। चित्त वृत्तियों का दर्शन सम्यक् दर्शन है, स्वस्वभाव में रमना है। आधुनिक मनोविज्ञान जिस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिए मनोग्रंथियों को तोड़ने

की बात कहता है, उसी प्रकार जैन दर्शन भी आत्मशुद्धि के लिए ग्रंथि-भेद की बात कहता है। ग्रंथि, ग्रंथि-भेद और निर्ग्रथ शब्दों के प्रयोग स्वयं आचारांग की मनोवैज्ञानिक दृष्टि के परिचायक हैं। वस्तुतः, ग्रंथियों से मुक्ति ही साधना का लक्ष्य है- गंथेहि विवत्तेहिं आउकालस्सपारए- १।८।८।११। जो ग्रंथियों से रहित है वही निर्ग्रथ है। निर्ग्रथ होने का अर्थ है, राग-द्वेष या आसक्ति रूपी गांठ का खुल जाना। जीवन में अंदर और बाहर से एकरूप हो जाना, मुखौटों की जिंदगी से दूर हो जाना, क्योंकि ग्रंथि का निर्माण होता है रागभाव से, आसक्ति से, मायाचार या मुखौटों की जिंदगी से। इस प्रकार, आचारांग एक मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रस्तुत करता है। आचारांग के अनुसार बंधन और मुक्ति के तत्त्व बाहरी नहीं, आंतरिक हैं। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि - 'बंधप्पमोकखो तुज्झ अज्झत्थेव' - १।५।२। बंधन और मोक्ष हमारे अध्यवसायों किंवा मनोवृत्तियों पर निर्भर हैं। मानसिक बंधन ही वास्तविक बंधन हैं। वे गांठें जिन्होंने हमें बांध रखा है, वे हमारे मन की ही गांठें हैं। वह स्पष्ट उद्घोषणा करता है कि- 'कामेसु गिद्धा निचयंकरंति' - १।३।२। कामभोगों के प्रति आसक्ति से ही बंधन की सृष्टि होती है। वह गांठ जो हमें बांधती है, आसक्ति की गांठ है, ममत्व की गांठ है, अज्ञान की गांठ है। इस आसक्ति से प्रत्युत्पन्न हिंसा व्यक्ति की और संसार की सारी पीड़ाओं का मूल स्रोत है। यही जीवन में नरक की सृष्टि करती है, जीवन को नारकीय बनाती है। एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए- १।१।२। आचारांग के अनुसार, विषय भोग के प्रति जो आतुरता है, वही समस्त पीड़ाओं की जननी है (आतुरा परितावेति- १।१।२) यहां हमें स्पष्ट रूप से विश्व की समस्त पीड़ाओं का एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है। सूत्रकार स्पष्ट रूप से कहता है कि - 'आसं च छंदं च विगिंच धीरे। तुमं चे तं सल्लमाहट्टु' - १।२।४। हे धीर पुरुष! विषय भोगों की आकांक्षा और तत्सम्बंधी संकल्प-विकल्पों का परित्याग करो। तुम स्वयं इस कटि को अपने अन्तःकरण में रखकर दुःखी हो रहे हो। इस प्रकार, आचारांग बंधन, पीड़ा या दुःख के प्रति एक आत्मनिष्ठ एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। वह कहता है- जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा (१।४।२) अर्थात् बाहर में जो बंधन के निमित्त हैं वे भी कभी मुक्ति के निमित्त बन जाते हैं। इसका आशय यही है कि बंधन और मुक्ति का सारा खेल साधक के अंतरंग भावों पर आधारित है। यदि इसी प्रश्न पर हम आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें, तो यह पाते हैं कि आधुनिक मनोविकृतियों के कारणों का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि आकांक्षाओं का उच्चस्तर ही मन में कुण्ठाओं को उत्पन्न करता है और उन कुण्ठाओं के कारण मनोग्रंथियों

की रचना होती है, जो अंततोगत्वा व्यक्ति में मनोविकृतियों को उत्पन्न करती है।

मनोवृत्तियों की सापेक्षता

आचारांगसूत्र में क्रोध, मान, माया, लोभ, राग (प्रेम), द्वेष, मोह आदि के परस्पर की सापेक्षता को सूचित करते हुए यह बताया गया है कि जो इनमें से किसी एक को भी सम्यक् प्रकार जान लेता है, वह अन्य सभी को भी जान लेता है और जो एक पथ पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है, वह अन्य सभी पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। (जे एंग जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एंगं जाणइ जे एंगं नामे से बहुं नामे जे बहुं नामे से एंगं नामे- १।३।४) आश्चर्य यही है कि अभी तक इन सूत्रों के तत्त्वमीमांसीय या ज्ञानमीमांसीय अर्थ लगाए गए और इनके मनोवैज्ञानिक संदर्भ को ओझल किया गया, जबकि ये सूत्र विशुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक हैं, क्योंकि इस उद्देशक का सम्पूर्ण संदर्भ कषायों से सम्बंधित है, जो मनोविज्ञान का विषय है। इन कषायों के दुश्चक्र से वही मुक्त हो सकता है, जो अप्रमत्त चेता है, क्योंकि जैसे ही व्यक्ति इनके प्रति सजग बनता है, इनके कारणों और परिणामों को देखने लगता है, वह मनोवृत्तियों के पारस्परिक सम्बंध स्पष्ट होते हुए पाता है। जब व्यक्ति क्रोध को देखता है, तो क्रोध के कारणभूत द्वेषभाव और द्वेष के कारणभूत रागभाव को भी देख लेता है, जब वह अहं या मान का द्रष्टा बनता है, तो अहं की तुष्टि के लिए मायावी मुखौटों का जीवन भी उसके सामने स्पष्ट हो जाता है। सूत्रकार ने पूरी स्पष्टता के साथ इस बात को प्रस्तुत किया कि किस प्रकार किसी एक मनोवृत्ति (कषाय) का द्रष्टा दूसरी सभी सापेक्ष रूप में रही हुई मनोवृत्तियों का द्रष्टा बन जाता है। वह कहता है- जो क्रोध को देखता है, वह मान (अहंकार) को देख लेता है। जो मान को देखता है वह माया (कपटवृत्ति) को देख लेता है। जो माया को देखता है वह लोभ को देख लेता है। जो लोभ को देखता है, वह राग-द्वेष को देख लेता है। जो राग-द्वेष को देखता है, वह मोह (अविद्या) को देख लेता है और जो मोह को देखता है, वह गर्भ (भावी जन्म) को देखता है और जो गर्भ को देखता है वह जन्म-मरण की प्रक्रिया को देख लेता है। इस प्रकार एक कषाय का सम्यक् विश्लेषण उससे सम्बंधित अन्य कषायों का तथा उनके परिणामों और कारणों का सम्यक् बोध करा देता है (१।३।४), क्योंकि सभी मनोवृत्तियां परस्पर सापेक्ष होकर रहती हैं! जहां मोह होता है, वहां राग-द्वेष होते हैं, वहां लोभ होता ही है। जहां लोभवृत्ति होती है वहां माया या कपटाचार आ ही जाता है। जहां कपटाचार होता है, वहां उसके पीछे मान या अहंकार का प्रश्न जुड़ा रहता है और जहां

मान या अहंकार होता है, उसके साथ क्रोध जुड़ा रहता है। राग के बिना द्वेष का और द्वेष के बिना राग का टिकाव नहीं है। इसी प्रकार क्रोध का टिकाव अहंकार पर और अहंकार का टिकाव मायाचार पर, मायाचार का टिकाव लोभ पर निर्भर करता है। कोई भी कषाय दूसरी कषाय से पूरी तरह निरपेक्ष होकर नहीं रह सकती है, अतः किसी एक कषाय का समग्र भाव से विजेता सभी कषायों का विजेता बन जाता है और एक का द्रष्टा सभी का द्रष्टा बन जाता है।

कषाय विजय उपाय : द्रष्टा या साक्षीभाव

आचारांग में मुनि और अमुनि का अंतर स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि जो सोता है, वह अमुनि है, जो जागता है, वह मुनि है। यहां जागने का तात्पर्य है, अपने प्रति, अपनी मनोवृत्तियों के प्रति सजग होना या अप्रमत्तचेता होना है। प्रश्न हो सकता है कि अप्रमत्तचेता या सजग होना क्यों आवश्यक है? वस्तुतः जब व्यक्ति अपने अंतर में झांककर अपनी वृत्तियों का द्रष्टा बनता है, तो दुर्विचार और दुष्प्रवृत्तियां स्वयं विलीन होती जाती हैं। जब घर का मालिक जागता है, चोर प्रवेश नहीं करते हैं, उसी प्रकार जो साधक सजग हैं, अप्रमत्त हैं, तो उनमें कषायें पनप नहीं सकतीं, क्योंकि कषाय स्वयं प्रमाद है तथा प्रमाद और अप्रमाद एक-साथ नहीं रह सकते हैं। अतः अप्रमाद होने पर कषाय पनप नहीं सकते। आचारांगसूत्र में बार-बार कहा गया है- 'तू देख' 'तू देख' (पास! पास!) यहां देखने का तात्पर्य है, अपने प्रति या अपनी वृत्तियों के प्रति सजग होना। क्योंकि जो द्रष्टा है, वही निरुपाधिक दशा को प्राप्त हो सकता है (किमत्यि उवाही पासगस्स, ण विज्जइ? नत्थि १।३।४)।

वस्तुतः, आत्मा जब अपने शुद्ध ज्ञाता स्वरूप में अवस्थित होती है, संसार के समस्त पदार्थ ही नहीं वरन् उसकी अपनी चित्तवृत्तियां और मनोभाव भी उसे 'पर' (स्व से भिन्न) प्रतीत होते हैं। जब वह 'पर' को 'पर' के रूप में जान लेता है और अपनी पृथकता का बोध कर लेता है, तब वह अपने शुद्ध ज्ञायक स्वरूप को जानकर उसमें अवस्थित हो जाता है, यही वह अवसर होता है, जब मुक्ति का द्वार उद्घाटित होता है, क्योंकि जिसने 'पर' को 'पर' के रूप में जान लिया है, उसके लिए ममत्व या राग के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता है। राग के गिर जाने पर वीतरागता का प्रकटन होता है और मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

मन के पवित्रीकरण की मनोवैज्ञानिक विधि

चित्त को अपवित्र नहीं होने देने के लिए मन की वृत्तियों को देखना जरूरी है, क्योंकि यह मन को दुष्प्रवृत्तियों से बचाने की एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मन एक ही समय में द्रष्टा और कर्ता की दो भूमिकाओं का निर्वाह नहीं कर सकता है। उदाहरण के लिए वह अपने क्रोध का कर्ता एवं द्रष्टा एक साथ नहीं हो सकता। मन जब कर्ता से द्रष्टा की भूमिका में आता है, तो मनोविकार स्वयं विलीन होने लगते हैं। मन तो स्वतः ही वासना और विकार से मुक्त हो जाता है। इसलिए कहा गया है- अप्रमत्तो कामेहिं उवरतो- १।२।१। सव्वतो पमत्तस्स भयं.... अप्पमत्तस्स नत्थि भयं- १।३।४। जो अप्रमत्त है, वह कामनाओं से और पाप कर्मों से उपरत है, प्रमत्त को ही विषय-विकार में फंसने का भय है, अप्रमत्त को नहीं। अप्रमत्तता या सम्यक् द्रष्टा की अवस्था में पापकर्म असम्भव हो जाता है, इसीलिए कहा गया है- सम्मत्तदंसी न करेइ पावं- १।३।२ अर्थात् सम्यक् द्रष्टा कोई पाप नहीं करता है। आचारांग में मन को जानने अथवा अप्रमत्त चेतना की जो बात बार-बार कही गई है, वह मन को वासनामुक्त करने का या मन के पवित्रीकरण का एक ऐसा उपाय है, जिसकी प्रामाणिकता आधुनिक मनोविज्ञान के प्रयोगों से सिद्ध हो चुकी है। जब साधक अप्रमत्त चेतना से युक्त होकर द्रष्टाभाव में स्थित होता है, तब सारी वासनाएं और सारे आवेग स्वतः शिथिल हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र यह कहकर कि 'आयंकदंसी न करेइ पावं (१।३।२)', पुनः एक मनोवैज्ञानिक सत्य को उजागर किया गया है। जो अपनी पीड़ा या वेदना को देख लेता है, उसके लिए पाप कर्म में फंसना एक मनोवैज्ञानिक असम्भावना बन जाती है। जब व्यक्ति पापकर्म या हिंसा जनित पीड़ा का स्वयं आत्मनिष्ठ रूप में अनुभव करता है, हिंसा करना उसके लिए असम्भव हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकार पाप से विरत होने के लिए मनोवैज्ञानिक सत्यों पर अधिष्ठित पद्धति प्रस्तुत करता है।

धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

आचारांग में अहिंसा, समाधि और प्रज्ञा को मोक्षमार्ग कहा गया है। इसमें अहिंसा को पूर्ण स्थान दिया गया है। यहां साधना का क्रम अंदर से बाहर की ओर न होकर बाहर से अंदर की ओर है, जो अधिक मनोवैज्ञानिक है। अहिंसा की साधना के द्वारा जब तक परिवेश एवं चित्तवृत्ति निराकुल नहीं बनेगी, समाधि नहीं होगी और जब तक समाधि नहीं आएगी प्रज्ञा का उदय नहीं होगा। इस संदर्भ में आचारांग के

दृष्टिकोण में और परवर्ती जैन दर्शन के दृष्टिकोण में स्पष्ट अंतर है। वह आचार शुद्धि से विचार शुद्धि की ओर बढ़ता है।

आचारांग में धर्म क्या है? इसके दो निर्देश हमें उपलब्ध होते हैं। प्रथम श्रुतस्कंध के चतुर्थ अध्ययन के प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ में अहिंसा को शाश्वत, नित्य और शुद्ध धर्म कहा गया है, (सव्वे भूया, सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा... एस धम्मे सुद्धे, निइए, सासए समिच्च लोयं खेंयण्णेहिं पवेइए - १।४।१) और प्रथम श्रुतस्कंध के आठवें अध्याय के तीसरे उद्देशक में समता को धर्म कहा गया है, समियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए (१।८।३) वस्तुतः, धर्म की ये दो व्याख्याएं दो दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करती हैं। अहिंसा व्यावहारिक समाज सापेक्ष धर्म है, जबकि वैयक्तिक एवं आंतरिक दृष्टि से समभाव ही धर्म है। सैद्धांतिक दृष्टि से अहिंसा और समभाव में अभेद है, किंतु व्यावहारिक दृष्टि से वे अलग हैं। समभाव की बाह्य अभिव्यक्ति अहिंसा बन जाती है और यही अहिंसा जब स्वकेंद्रित (स्वदया) होती है तो समभाव बन जाती है।

समत्व या समता धर्म क्यों?

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि समता को धर्म क्यों माना जाए? जैन परम्परा के परवर्ती ग्रंथों में धर्म की व्याख्या 'वत्थु सहावो धम्मो' के रूप में की गई है, अतः समता को तभी धर्म माना जा सकता है, जबकि वह प्राणीय स्वभाव सिद्ध हो आए, जरा इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें।

जैन दर्शन में मानव प्रकृति एवं प्राणीय प्रकृति का गहन विश्लेषण किया गया है। महावीर से जब यह पूछा गया कि आत्मा क्या है? आत्मा का साध्य या आदर्श क्या है? तब महावीर ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया था वह आज भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है। महावीर ने कहा था- आत्मा समत्व रूप है और समत्व ही आत्मा का साध्य है (आयाए सामाइए आया समाइस्स अट्ठे-भगवतीसूत्र)। वस्तुतः, जहां भी जीवन है, चेतना है, वहां समत्व के संस्थापन के अनवरत प्रयास चल रहे हैं। परिवेशजन्य विषमताओं को दूर कर समत्व के लिए प्रयासशील बने, यह जीवन या चेतना का मूल स्वभाव है। शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर समत्व का संस्थापन ही जीवन का लक्षण है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में 'जीवन गतिशील संतुलन है'। (जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ. २५९)। स्पेन्सर के अनुसार परिवेश में निहित तथ्य जीवन के संतुलन को भंग करते रहते हैं और जीवन

अपनी क्रियाशीलता के द्वारा पुनः इस संतुलन को बनाने का प्रयास करता है। यह संतुलन बनाने का प्रयास ही जीवन की प्रक्रिया है (फर्स्ट प्रिंसिपल्स-स्पेन्सर, पृष्ठ ६६)। विकासवादियों ने इसे ही अस्तित्व के लिए संघर्ष कहा है, किंतु मेरी अपनी दृष्टि में इसे अस्तित्व के लिए संघर्ष कहने की अपेक्षा, समत्व के संस्थापन का प्रयास कहना ही अधिक उचित है। समत्व के संस्थापन एवं समायोजन की प्रक्रिया ही जीवन का महत्वपूर्ण लक्षण है।

इस प्रकार जैन दर्शन में समभाव या वीतराग दशा को ही नैतिक जीवन का आदर्श माना गया है। यह बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सही उतरती है। संघर्ष नहीं, अपितु समत्व ही जीवन का आदर्श हो सकता है, क्योंकि यही हमारा स्वभाव है और जो स्व-स्वभाव है, वही आदर्श है। स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। स्पेन्सर, डार्विन और आर्म्स प्रभृति कुछ पाश्चात्य विचारक संघर्ष को ही जीवन का स्वभाव मानते हैं, लेकिन यह एक मिथ्या धारणा है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार वस्तु का स्वभाव वह होता है, जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता। जैन दर्शन के अनुसार नित्य और निरपवाद वस्तुधर्म ही स्वभाव है। यदि हम इसे कसौटी पर कसें, तो संघर्ष एवं तनाव जीवन का स्वभाव सिद्ध नहीं होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य-स्वभाव संघर्ष है, मानवीय इतिहास वर्ग-संघर्ष की कहानी है। संघर्ष ही जीवन का नियम है, किंतु यह एक मिथ्या धारणा है। यदि संघर्ष ही जीवन का नियम है, तो फिर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संघर्ष का निराकरण क्यों करना चाहता है, संघर्ष मिटाने के लिए होता है! जो मिटाने की, निराकरण करने की वस्तु है, क्या उसे स्वभाव कहा जा सकता है, संघर्ष यदि मानव इतिहास का एक तथ्य है, तो वह उसके दोषों का इतिहास है, उसके स्वभाव का इतिहास नहीं। मानव स्वभाव संघर्ष नहीं, संघर्ष का निराकरण या समत्व की साधना है, क्योंकि युगों से मानवीय प्रयास उसी के लिए हो रहे हैं।

संघर्ष अथवा समत्व के विचलन जीवन में पाए जाते हैं, लेकिन वे जीवन के स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि जीवन की प्रक्रिया उनको समाप्त करने की दिशा में ही प्रयासशील है। समता की उपलब्धि ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन का साध्य है। कामना, आसक्ति, राग-द्वेष, वितर्क आदि सभी मानसिक असंतुलन एवं तनाव की अवस्था को अभिव्यक्त करते हैं। अतः आचारांग में इन्हें अशुभ माना गया है। इसके विपरीत वासनाशून्य, वितर्कशून्य, निष्काम, अनासक्त, वीतराग अवस्था ही जीवन का आदर्श है, क्योंकि वह

समत्व की स्थिति है। राग और द्वेष की वृत्तियां हमारे चेतन समत्व को भंग करती हैं, अतः उनसे ऊपर उठकर वीतरागता की अवस्था को प्राप्त कर लेना ही सच्चे समत्व की अवस्था है। वस्तुतः, समत्व की उपलब्धि आचारांग और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों की दृष्टि से मानव जीवन का साध्य मानी जा सकती है और जो जीवन का साध्य एवं स्वभाव हो, वही धर्म कहा जा सकता है। आचारांग स्पष्ट रूप से कहता है कि जो समता को जानता है, वही मुनि धर्म को जानता है।

आचारांग में अहिंसा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

आचारांग में अहिंसा के सिद्धांत को मनोवैज्ञानिक आधार पर ही स्थापित करने का प्रयास किया गया है। अहिंसा को आर्हत-प्रवचन का सार और शुद्ध एवं शाश्वत धर्म बताया गया है।

सर्वप्रथम हमें विचार करना है कि अहिंसा को ही धर्म क्यों माना जाए। सूत्रकार इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक उत्तर प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, पुनः सभी को सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है (सव्वे पाण पिआउया सुहसाया दुक्खपडिकूलो- १।२।३), अहिंसा का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अस्तित्व और सुख की च्चाह प्राणीय स्वभाव है। जैन विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा को स्थापित किया है। यद्यपि मेकेंजी ने 'भय' को अहिंसा का आधार माना है, किंतु उसकी यह धारणा गलत है, क्योंकि भय के सिद्धांत को यदि अहिंसा का आधार बनाया जाएगा तो व्यक्ति केवल सबल की हिंसा से विरत होगा, निर्बल की हिंसा से नहीं। भय को आधार मानने पर तो जिससे भय होगा उसी के प्रति अहिंसक बुद्धि बनेगी, जबकि आचारांग तो प्राणियों के प्रति यहां तक कि वनस्पति, जल और पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति भी अहिंसक होने की बात करता है, अतः आचारांग में अहिंसा को भय के आधार पर नहीं, अपितु जिजीविषा और सुखाकांक्षा के मनोवैज्ञानिक सत्त्यों के आधार पर अधिष्ठित किया गया है। पुनः अहिंसा को इन मनोवैज्ञानिक सत्त्यों के साथ-साथ तूल्यता बोध के बौद्धिक सिद्धांत पर खड़ा किया गया। वहां कहा गया है कि 'जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ.. एयं तुल्लमन्नेसिं'- १।१।७, जो अपनी पीड़ा को जान पाता है, वही तुल्यता बोध के आधार पर दूसरों की पीड़ा को भी समझ सकता है। यह प्राणीय पीड़ा की तुल्यता बोध के आधार पर होने वाला आत्मसंवेदन ही अहिंसा का

आधार है। सूत्रकार तो अहिंसा के इस सिद्धांत को अधिक गहराई तक अधिष्ठित करने के प्रयास स्वरूप यहां तक कह देता है कि जिसे तू मारना चाहता है, पीड़ा देना चाहता है, सताना चाहता है, वह तू ही है (आचारांग, १।५।५)। आगे कहता है कि जो लोग (लोक) का अपलाप करता है, वह स्वयं अपनी आत्मा का अपलाप करता है (आचारांग, १।१।३)। यहां अहिंसा को अधिक गहन मनोवैज्ञानिक आधार देने के प्रयास में वह जैन दर्शन के आत्मा सम्बंधी अनेकात्मवाद के स्थान पर एकात्मवाद की बात करता सा प्रतीत होता है, क्योंकि यहां वह इस मनोवैज्ञानिक सत्य को देख रहा है कि केवल आत्मभाव में हिंसा असम्भव हो सकती है। जब तक दूसरे के प्रति पर बुद्धि है, पराएपन का भाव है, तब तक हिंसा की सम्भावनाएं उपस्थित हैं। व्यक्ति के लिए हिंसा तभी असम्भव हो सकती है जब उसमें प्राणी जगत् के प्रति अपनत्व या आत्मीय दृष्टि जागृत हो। अहिंसा की स्थापना के लिए जो मनोवैज्ञानिक भूमिका अपेक्षित थी, उसे प्रस्तुत करने में सूत्रकार ने आत्मा की वैयक्तिकता की धारणा का भी अतिक्रमण कर, उसे अभेद की धारणा पर स्थापित करने का प्रयास किया है। हिंसा के निराकरण के प्रयास में भी सूत्रकार ने एक ओर इस मनोवैज्ञानिक सत्य को उजागर किया है कि हिंसा से हिंसा या घृणा से घृणा का निराकरण सम्भव नहीं है। वह तो स्पष्ट रूप से कहता है- शस्त्रों के आधार पर या भय और हिंसा के आधार पर शांति की स्थापना सम्भव नहीं है, क्योंकि एक शस्त्र का प्रतिकार दूसरे शस्त्र के द्वारा सम्भव है। शांति की स्थापना तो अहिंसा या प्रेम द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि अशस्त्र से बढ़कर कुछ अन्य नहीं है (आचारांग, १।३।४)।

आचारांग में मानवीय व्यवहार के प्रेरक तत्त्व

सामान्यतया राग और द्वेष ये दो कर्म बीज माने गए हैं, किंतु इनमें भी राग ही प्रमुख तथ्य है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि आसक्ति ही कर्म का प्रेरक तथ्य है (१।३।२)। आचारांग और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों ही इस सम्बंध में एकमत हैं कि मानवीय व्यवहार का मूलभूत प्रेरक तत्त्व वासना या काम है, फिर भी आचारांग और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों में वासना के मूलभूत प्रकार कितने हैं, इस सम्बंध में कोई निश्चित संख्या नहीं मिलती है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में जहां फ्रायड काम या राग को ही एकमात्र मूल प्रेरक मानते हैं, वहीं दूसरे विचारकों ने मूलभूत प्रेरकों की संख्या सौ तक मानी है, फिर भी पाश्चात्य मनोविज्ञान में सामान्यतया निम्न १४ मूल प्रवृत्तियां मानी गई हैं-

१. पलायनवृत्ति (भय), २. घृणा, ३. जिज्ञासा, ४. आक्रामकता (क्रोध), ५. आत्मगौरव (मान), ६. आत्महीनता, ७. मातृत्व की संप्रेरणा, ८. समूह भावना, ९. संग्रहवृत्ति, १०. रचनात्मकता, ११. भोजनान्वेषण, १२. काम, १३. शरणागति और १४. हास्य (आमोद)। आचारांगसूत्र में भय, द्वेष, जिज्ञासा, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, आत्मीयता, हास्य आदि का यत्र-तत्र बिखरा हुआ उल्लेख उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त हिंसा के कारणों का निर्देश करते हुए कुछ कर्म-प्रेरकों का उल्लेख उपलब्ध है। यथा जीवन जीने के लिए, प्रशंसा और मान-सम्मान पाने के लिए, जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए तथा शारीरिक एवं मानसिक दुःखों की निवृत्ति हेतु प्राणी हिंसा करता है (१।१।४)।

आचारांग का सुखवादी दृष्टिकोण

आधुनिक मनोविज्ञान हमें यह भी बताता है कि सुख सदैव अनुकूल इसलिए होता है कि उसका जीवन शक्ति को बनाए रखने की दृष्टि से दैहिक मूल्य है और दुःख इसलिए प्रतिकूल होता है कि वह जीवन शक्ति का हास करता है। यही सुख-दुःख का नियम समस्त प्राणीय व्यवहार का चालक है। आचारांग भी प्राणीय व्यवहार के चालक के रूप में इसी सुख-दुःख के नियम को स्वीकार करता है (आचारांग, १।२।३)। अनुकूल के प्रति आकर्षण और प्रतिकूल के प्रति विकर्षण, यह इंद्रिय स्वभाव है। अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति, प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति, यह एक नैसर्गिक तथ्य है, क्योंकि सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल होता है। वस्तुतः, प्राणी सुख को प्राप्त करना चाहता है और दुःख से बचना चाहता है। वासना ही अपने विधानात्मक रूप में सुख और निषेधात्मक रूप में दुःख का रूप ले लेती है, जिससे वासना की पूर्ति हो, वही सुख और जिससे वासना की पूर्ति न हो अथवा वासना पूर्ति में बाधा उत्पन्न हो वह दुःख। इस प्रकार वासना से ही सुख-दुःख के भाव उत्पन्न होकर प्राणीय व्यवहार का नियमन करने लगते हैं।

दमन का प्रत्यक्ष और आचारांग

सामान्यतया आचारांग में इंद्रिय संयम पर काफी बल दिया गया है। वह तो शरीर को सुखा डालने की बात कहता है, लेकिन प्रश्न यह है कि क्या पूर्ण इंद्रिय-निरोध सम्भव है? आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इंद्रिय व्यापारों का निरोध एक अस्वाभाविक तथ्य है, आंख के समक्ष जब उसका विषय प्रस्तुत होता है, तो वह उसके सौंदर्य दर्शन से वंचित

नहीं रह सकती। भोजन करते समय स्वाद को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यह विचारणीय प्रश्न है कि इंद्रिय दमन के सम्बंध में क्या आचारांग का दृष्टिकोण आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सहमत है? आचारांग इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यही कहता है कि इंद्रिय व्यापारों के निरोध का अर्थ इंद्रियों को अपने विषयों से विमुख करना नहीं, वरन् विषय-सेवन के मूल में जो निहित राग-द्वेष हैं, उन्हें समाप्त करना है। इस सम्बंध में उसमें जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, वह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उसमें कहा गया है कि यह शक्य नहीं कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जाएं, अतः शब्दों का नहीं, शब्दों के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं कि आंखों के सामने वाला अच्छा या बुरा रूप न देखा जाए, अतः रूप का नहीं, अपितु रूप के प्रति जागृत होने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि नासिका के समक्ष आई हुई सुगंध सूंघने में न आए, अतः गंध का नहीं, किंतु गंध के प्रति आने वाली राग-द्वेष की वृत्ति का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आए। अतः रस का नहीं, किंतु रस के प्रति जागने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि शरीर से सम्पर्क होने वाले अच्छे या बुरे स्पर्श की अनुभूति न हो। अतः स्पर्श नहीं, किंतु स्पर्श के प्रति जागने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए (आचारांग २।१५।१०१-१०५)। उत्तराध्ययन में भी इसकी पुष्टि की गई है। उसमें कहा गया है कि इंद्रियों के मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ विषय आसक्त व्यक्ति के लिए राग-द्वेष के कारण नहीं होते हैं। ये विषय रागी पुरुषों के लिए ही दुःख (बंधन) के कारण होते हैं, वीतरागियों के बंधन या दुःख का कारण नहीं हो सकते। काम-भोग न किसी को बंधन में डालते हैं और न किसी को मुक्त ही कर सकते हैं, किंतु जो विषयों में राग-द्वेष करता है, वही राग-द्वेष से विकृत होता है (उत्तराध्ययन ३२।१००-१०१)।

जैन दर्शन के अनुसार साधना का सच्चा मार्ग औपशमिक नहीं वरन् क्षायिक है। औपशमिक मार्ग का अर्थ वासनाओं का दमन है। इच्छाओं के निरोध का मार्ग औपशमिक मार्ग है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि में यह दमन का मार्ग है, जबकि क्षायिक मार्ग वासनाओं के निरसन का मार्ग है। वह वासनाओं से ऊपर उठता है। यह दमन नहीं, अपितु चित्त विशुद्धि है। दमन तो मानसिक गंदगी को ढंकने मात्र में है और जैन दर्शन इस प्रकार के दमन को स्वीकार नहीं करता। जैन दार्शनिकों ने गुणस्थान प्रकरण में यह स्पष्ट रूप बताया है कि वासनाओं को बोककर आगे वाली साधना विकास की अग्रिम कक्षाओं से

अनिवार्यतया पदच्युत हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन भी आधुनिक मनोवैज्ञानिक के समान ही दमन को साधना का सच्चा मार्ग नहीं मानता है। उसके अनुसार साधना का सच्चा मार्ग वासनाओं का दमन नहीं, अपितु उनसे ऊपर उठ जाना है। वह इंद्रिय निग्रह नहीं, अपितु ऐन्द्रिक अनुभूतियों में भी मन की वीतरागता या समत्व की अवस्था है।

अतः यह स्पष्ट है कि आचारांगसूत्र अपनी विवेचनाओं में मनोवैज्ञानिक आधारों पर खड़ा हुआ है। उत्तम आचार के जो नियम-उपनियम बनाए गए हैं, वे भी उसकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि के परिचायक हैं, किंतु यहां उन सबकी गहराइयों में जाना सम्भव नहीं है। यद्यपि इस सम्पूर्ण विवेचना का यह अर्थ भी नहीं है कि आचारांग में जो कुछ कहा गया, वह सभी मनोवैज्ञानिक सत्तों पर आधारित है। अहिंसा, समता और अनासक्ति के जो आदर्श उसमें प्रस्तुत किए गए हैं, वे चाहे मनोवैज्ञानिक आधारों पर अधिष्ठित हों, किंतु उनकी जीवन में पूर्ण उपलब्धि की सम्भावनाओं पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही प्रश्न चिह्न भी लगाया जा सकता है। ये आदर्श के रूप में चाहे कितने ही सुहावने हों, किंतु मानव जीवन में इनकी व्यावहारिक सम्भावना कितनी है, यह विवाद का विषय बन सकता है, फिर भी मानवीय-दुर्बलता के आधार पर उनसे विमुख होना उचित नहीं होगा, क्योंकि इनके द्वारा ही न केवल मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होगा, अपितु लोक मंगल की भावना भी साकार बन सकेगी।

आचारांग में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान

जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं कि आचारांग मूलतः दर्शन का ग्रंथ न होकर आचार शास्त्र का ग्रंथ है, फिर भी ऐसा कहा जा सकता है कि उसमें दर्शन के तत्त्वों का पूर्णतः अभाव है। आचारांग का प्रारम्भ ही एक पारिणामिक नित्य आत्मा की अवधारणा से होती है। आचारांग आत्मा और पुनर्जन्म की अवधारणा को स्वीकार करके चलता है। वह कर्म की अवधारणा को भी स्वीकार करता है तथा यह मानता है कि कर्म ही बंधन के कारण हैं। यदि हम सूक्ष्मता से देखें, तो उसमें कर्म को पौद्गलिक मानकर कर्म शरीर का भी उल्लेख किया गया है और साधक को कहा गया है कि वह कर्म शरीर का ही विधूनन करे। इसी प्रकार आचारांग में आश्रव, संवर और प्राकारान्तर से निर्जरा की व्यवस्थाएं भी उपलब्ध हो जाती हैं। आचारांग मुक्तात्मा के अनिर्वचनीय स्वरूप की भी औपनिषदिक शैली में व्याख्या करता है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि संक्षेप में आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म, बंधन, आश्रव, संवर, निर्जरा और मुक्ति इन सब अवधारणाओं को चाहे संक्षेप में ही क्यों न हो स्वीकार करके चलता है। फिर भी उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि आचारांग, दर्शन के सम्बंध में केवल इन्हीं तथ्यों को रखना चाहता है जो उसके आचार शास्त्र के पूर्व मान्यता के लिए अपरिहार्य हैं। जैनधर्म का जो विकसित तत्त्वज्ञान है उसका उसमें अभाव ही देखा जाता है, जीव और पुद्गल को छोड़कर आकाश, धर्म, अधर्म और काल की उसमें कोई स्वतंत्र व्याख्या नहीं है।

आचारांग के आचार-नियम

जहां तक आचारांग में प्रतिपादित आचार नियमों का प्रश्न है मूलतः वे सभी नियम अहिंसा को केंद्र में रखकर बनाए गए हैं। आचारांग के आचार नियमों का केंद्रबिंदु अहिंसा का परिपालन ही है। जीवन में अहिंसा और अनासक्ति को किस चरमसीमा तक अपनाया जा सकता है, इसका आदर्श हमें आचारांग में देखने को मिल सकता है। आचारांग के दो श्रुतस्कंधों में जहां प्रथम श्रुतस्कंध आचार के सामान्य सिद्धांतों को प्रस्तुत करता है, वहीं द्वितीय श्रुतस्कंध उसके व्यवहार पक्ष को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। विद्वानों ने आचारांग के दूसरे श्रुतस्कंध को प्रथम श्रुतस्कंध की व्यावहारिक व्याख्या ही माना है। प्रथम श्रुतस्कंध में मूलतः अहिंसा, अनासक्ति तथा कषायों और वासनाओं के विजय का सूत्र रूप में संकेत किया गया है, जबकि दूसरे श्रुतस्कंध में इनसे ऊपर उठकर कैसा जीवन जीया जा सकता है, इसका चित्रण किया गया है। दूसरा श्रुतस्कंध मूलतः मुनि जीवन की भोजन, वस्त्र, पात्र आदि सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार की जाए, इसका विस्तार से विवेचन करता है, इस श्रुतस्कंध का अंतिम भाग जहां एक ओर महावीर का जीवनवृत्त प्रस्तुत करता है, वहीं दूसरी ओर वह इंद्रिय विजय की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर भी प्रकाश डालता है। यद्यपि आचारांग का आचारपक्ष व्यावहारिक दृष्टि से कठोर कहा जा सकता है, किंतु उसमें साधना के जिस आदर्श स्वरूप का चित्रण है, उसके मूल्य को नकारा नहीं जा सकता।

जीव समास की भूमिका

(ई.पू. सन् की लगभग २ री- ३ री शती)

जीवसमास रचयिता एवं रचनाकाल

जीवसमास नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह जीवों की विभिन्न अवस्थाओं की विवेचना करने वाला ग्रंथ है। यह किसी पूर्वधर आचार्य द्वारा रचित एवं जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके वास्तविक रचयिता कौन हैं, यह तथ्य मूलग्रंथ के आधार पर कहीं भी स्पष्ट नहीं होता है। इसकी अंतिम प्रशस्ति में इसे पूर्व साहित्य के आधार पर रचित माना गया है। इससे इतना तो अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि इसके रचयिता पूर्वों के ज्ञाता थे। यह ग्रंथ किसने और कब बनाया, इसका ज्ञान हरिभद्र (८वीं शती) जैसे प्राचीन आचार्यों को भी नहीं था। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में उस काल तक रचित आगम ग्रंथों के उल्लेख मिलते हैं, किंतु उनमें कहीं भी जीवसमास का उल्लेख नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि जीवसमास की रचना नन्दीसूत्र के पश्चात् ही हुई होगी। नन्दीसूत्र की रचना लगभग विक्रम की पांचवीं शती में हुई, अतः जीवसमास पांचवीं शती के पश्चात् निर्मित हुआ। सातवीं शताब्दी में या उसके पश्चात् रचित ग्रंथों में जीवसमास का उल्लेख पाया जाता है, अतः जीवसमास की रचना विक्रम संवत् की प्रांचवीं शती के पश्चात् और सातवीं शती के पूर्व अर्थात् लगभग छठी शताब्दी में हुई होगी।

प्रस्तुत कृति लगभग छठी शती की रचना है, इसके कुछ अन्य आधार भी हैं, सर्वप्रथम इसमें नयों की चर्चा के प्रसंग में सात मूल नयों की प्रचलित अवधारणा के स्थान पर नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द- ये पांच ही मूलनय माने गए हैं, यह अवधारणा हमें तत्त्वार्थसूत्र में भी मिलती है। जीवसमास में समभिरूढ़ और एवंभूत- इन दो नयों का कोई उल्लेख नहीं है, जबकि उमास्वाति समभिरूढ़ एवं एवंभूत- इन दो नयों का शब्द नय के दो भेदों के रूप में उल्लेख करते हैं। सिद्धसेनदिवाकर ने नैगम को तो स्वीकार नहीं किया, किंतु समभिरूढ़ एवं एवंभूत को मूलनय मानकर छह नय माने हैं। ऐसा लगता है कि सप्त नयों की स्पष्ट अवधारणा लगभग छठी शती के उत्तरार्द्ध में विकसित हुई है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका (छठी शती) के मूलपाठ में सर्वप्रथम भाष्यमान पाठ के पांच मूल नयों के स्थान पर सात मूलनयों का निर्देश है। जीवसमास में पांच नयों

का यह उल्लेख इतना तो अवश्य सिद्ध करता है कि प्रस्तुत कृति सप्तमियों की अवधारणा के विकसित एवं सुस्थापित होने के पूर्व अर्थात् छठी शती के पूर्वार्द्ध की रचना होनी चाहिए। यद्यपि गुणस्थानों की अवधारणा की उपस्थिति के आधार पर यह कृति तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती है, फिर भी नयों के संदर्भ में यह उस धारा का प्रतिनिधित्व करती है, जो प्राचीन रही है। ज्ञातव्य है कि षट्खण्डागम मूल में भी सर्वत्र इन्हीं पांचों नयों का निर्देश है (५/६/३, पृ. ७१८, ४/१/४८-५०, ४/१/५६-५९, ४/२/२-४, ४/३/१-४)।

जीवसमास का प्राचीनता का दूसरा आधार उसका ज्ञान-सिद्धांत है। इसमें ज्ञान के पांच प्रकारों की चर्चा के प्रसंग में तत्त्वार्थसूत्र के समान ही मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्षज्ञान ही माना गया है। यह अवधारणा भी तत्त्वार्थसूत्र के समान ही है, किंतु मतिज्ञान के अंतर्गत इंद्रियप्रत्यक्ष को स्वीकार कर लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान चर्चा के प्रसंग में जीवसमास की स्थिति तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती है और नन्दीसूत्र के समान ही है- नन्दीसूत्र का काल लगभग पांचवीं शती हैं। नन्दीसूत्र में ही सर्वप्रथम मतिज्ञान के एकभेद के रूप में इंद्रियप्रत्यक्ष को व्यावहारिक प्रत्यक्ष के रूप में मान्य किया गया है।

पुनः प्रमाणों की चर्चा के प्रसंग में भी इसमें- प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान इन चार प्रमाणों की ही चर्चा हुई है। जैन दर्शन में चार प्रमाणों की यह चर्चा भी आगमिक युग (५वीं शती) की देन है और न्यायदर्शन से प्रभावित है, समवायांग और नन्दीसूत्र में भी इन्हीं चार प्रमाणों की चर्चा मिलती है। इसमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क इन तीन प्रमाणों की चर्चा का, जो तार्किक युग की देन है, पूर्ण अभाव है। जैन दर्शन में इन तीनों की प्रमाणों के रूप में स्वीकृति सर्वप्रथम अकलंक के काल (लगभग ८वीं शती) से प्रारम्भ होती है। अतः इससे भी इतना तो सुनिश्चित होता है कि जीवसमास ५वीं शती के पश्चात् और ८वीं शती के पूर्व अर्थात् छठी-सातवीं शती में कभी निर्मित हुआ होगा। किंतु सातवीं शती से जीवसमास के निर्देश उपलब्ध होते हैं, अतः यह छठी शती में निर्मित हुआ होगा, इस तथ्य को मान्य किया जा सकता है।

तीसरे जीवसमास में चौदह गुणस्थानों का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है, इससे भी यही स्पष्ट होता है कि यह ग्रंथ ५वीं शताब्दी के बाद की ही रचना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य (लगभग तीसरी-चौथी शती) में गुणस्थान सिद्धांत का कोई उल्लेख नहीं है अतः इतना तो निश्चित है कि यह ग्रंथ तभी अस्तित्व में आया, जब चौदह

गुणस्थानों की अवधारणा अस्तित्व में आ चुकी थी। चौदह गुणस्थानों का उल्लेख आगम साहित्य में सर्वप्रथम समवायांग और आवश्यकनिर्युक्ति की दो प्रक्षिप्त गाथाओं में पाया जाता है, किंतु उनमें ये गाथाएं सम्भवतः वल्लभीवाचना के समय या उसके भी पश्चात् कभी संग्रहणीसूत्र से प्रक्षिप्त की गई होंगी, क्योंकि आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में आचार्य हरिभद्र ने इन दोनों गाथाओं को निर्युक्ति की गाथा न मानकर संग्रहणीसूत्र की गाथा कहा है। आज संग्रहणीसूत्र की अनेक गाथाएं आगमों एवं निर्युक्तियों में उपलब्ध होती हैं। यह निश्चित है कि गुणस्थान की अवधारणा लगभग पांचवीं शती के उत्तरार्द्ध और छठी शती के पूर्वार्द्ध में कभी अस्तित्व में आई है। अतः गुणस्थानों के आधार पर जीव की चौदह मार्गणाओं और आठ अनुयोगद्वारों की चर्चा करने वाला यह ग्रंथ उसके पश्चात् ही लगभग छठी शती के उत्तरार्द्ध में निर्मित हुआ होगा।

यहां यह भी ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत ग्रंथ के प्रारम्भ में चौदह गुणस्थानों को जीवसमास के नाम से अभिहित किया गया है। चौदह गुणस्थानों को समवायांगसूत्र में मात्र जीवस्थान के नाम से तथा षट्खण्डागम के प्रारम्भ में जीवसमास के नाम से और बाद में गुणस्थान के नाम से अभिहित किया गया है। षट्खण्डागम के समान ही प्रस्तुत कृति में भी गुणस्थान को पहले जीवसमास और बाद में गुणस्थान के नाम से अभिहित किया गया है। पुनः प्रस्तुत कृति की षट्खण्डागम के सत्यपदप्ररूपना नामक प्रथम खण्ड से भी अनेक अर्थों में समानता है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इससे ऐसा लगता है कि यह कृति षट्खण्डागम की समकालिक या उससे किंचित पूर्ववर्ती या परवर्ती ही रही होगी, फिर भी इतना निश्चित है कि प्रस्तुत कृति उसी प्रारम्भिक काल की रचना है, जब गुणस्थानों की अवधारणा जीवसमास के नाम से प्रारम्भ होकर गुणस्थान सिद्धांत के रूप में अपना स्वरूप ले रही थी। इसमें गुणस्थानों और मार्गणाओं के सह-सम्बंध की चर्चा से यह भी फलित होता है कि यह छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध की रचना है, क्योंकि छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से न केवल जीवसमास या जीवस्थान, गुणस्थान के नाम से अभिहित होने लगे थे, अपितु जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान के एक-दूसरे से पारस्परिक सह-सम्बंध भी निश्चित हो चुके थे। जीवसमास नामक प्रस्तुत कृति में जीवस्थानों, मार्गणास्थानों और गुणस्थानों के पारस्परिक सम्बंध की जो स्पष्ट चर्चा है, उससे यही फलित होता है कि यह कृति लगभग छठी शती के उत्तरार्द्ध की रचना होकर षट्खण्डागम के समकालिक होनी चाहिए।

इस प्रसंग में गुणस्थान सिद्धांत के उद्भव और विकास की यात्रा को समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि जीवसमास नामक इस कृति में 'जीवसमास' के नाम से गुणस्थानों की ही चर्चा की गई है और इन गुणस्थानों के संदर्भ में मार्गणाओं आदि का सह-सम्बंध स्पष्ट करना ही इसका प्रतिपाद्य है।

गुणस्थान सिद्धांत का उद्भव एवं विकास

व्यक्ति की आध्यात्मिक शुद्धि के विभिन्न स्तरों का निर्धारण करने के लिए जैन दर्शन में गुणस्थान की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि गुणस्थान की अवधारणा जैन धर्म की एक प्रमुख अवधारणा है, तथापि प्राचीन स्तर के जैन-आगमों यथा-आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशवैकालिक, भगवती आदि में इस सिद्धांत का कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है। सर्वप्रथम समवायांग में जीवस्थान के नाम से इन गुणस्थानों का उल्लेख हुआ है। समवायांग में यद्यपि चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश हुआ है, किंतु उन्हें गुणस्थान न कहकर जीवस्थान (जीवठाण) कहा गया है। (समवायांग, सम्पादक- मुधकरमुनि, १४/९५)।

समवायांग के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में गुणस्थानों के इन चौदह नामों का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति में उपलब्ध है, किंतु उसमें भी उन्हें गुणस्थान न कहकर जीवस्थान ही कहा गया है। ज्ञातव्य है कि निर्युक्ति में भी ये गाथाएं प्रक्षिप्त हैं। आचार्य हरिभद्र (आठवीं शती) ने अपनी आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में इन्हें संग्रहणीसूत्र से उद्धृत बताया है।

आगमों के समान प्रकीर्णकों में भी गुणस्थान की अवधारणा का अभाव है। श्वेताम्बर परम्परा में इन चौदह अवस्थाओं के लिए 'गुणस्थान' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमें आवश्यकचूर्णि (७वीं शती) में मिलता है, उसमें लगभग तीन पृष्ठों में इसका विवरण दिया गया है।

जहां तक अचेल परम्परा का प्रश्न है, उसमें कसायपाहुड को छोड़कर षट्खण्डागम, मूलाचार और भगवती आराधना जैसे तत्त्वज्ञान एवं आचारप्रधान ग्रंथों में तथा तत्त्वार्थसूत्र की पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि टीका, भट्ट अकलंक के राजवार्त्तिक, विद्यानन्दी के श्लोकवार्त्तिक आदि दिगम्बर आचार्यों के टीका ग्रंथों में इस सिद्धांत का विस्तृत विवेचन हुआ है। ज्ञातव्य है कि मात्र षट्खण्डागम में इन्हें जीवसमास कहा गया है। शेष सभी ग्रंथों में इन्हें गुणस्थान के नाम से ही अभिहित किया गया है।

हमारे लिए आश्चर्य का विषय तो यह है कि आचार्य उमास्वाति (लगभग तीसरी-चौथी शती) ने जहां अपने तत्त्वार्थसूत्र में जैन धर्म एवं दर्शन के लगभग सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है। वहां उन्होंने चौदह गुणस्थानों का स्पष्ट रूप से कहीं भी निर्देश नहीं किया है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि क्या तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक जैन धर्म में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? और यदि उसका विकास हो चुका था तो उमास्वाति ने अपने मूल ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र में या उसकी स्वोपज्ञ टीका तत्त्वार्थभाष्य में उसका उल्लेख क्यों नहीं किया? जबकि उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय में आध्यात्मिक विशुद्धि (कर्म-निर्जरा) की दस अवस्थाओं को सूचित करते हुए एक लम्बा सूत्र बनाया है। यदि उनके सामने गुणस्थान की अवधारणा होती तो निश्चय ही वे उस सूत्र के स्थान पर उसका प्रतिपादन करते, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में जिन दस अवस्थाओं का निर्देश है, उनमें और गुणस्थानों के नामकरण एवं क्रम में बहुत कुछ समानता है। मेरी दृष्टि में तो इन्हीं दस अवस्थाओं के आधार पर ही गुणस्थान सिद्धांत का विकास हुआ है। इस सूत्र में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बंधित कुछ पारिभाषिक शब्द- जैसे दर्शन-मोह उपशमक, दर्शन-मोह क्षपक (चारित्र-मोह), उपशमक, (चारित्र-मोह) क्षपक, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, केवली (जिन) आदि उपलब्ध होते हैं। इससे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य के रचनाकाल तक जैन परम्परा में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हो पाया था, यद्यपि इस अवधारणा के मूल बीज उपस्थित थे। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात भी महत्वपूर्ण है कि समवायांग और षट्खण्डागम के प्रारम्भ में १४ गुणस्थानों के नामों का स्पष्ट निर्देश होकर भी उन्हें गुणस्थान नाम से अभिहित नहीं किया गया है। जहां समवायांग उन्हें जीवस्थान कहता है वहां प्रस्तुत जीवसमास एवं षट्खण्डागम में उन्हें जीवसमास कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवसमास और षट्खण्डागम- ये दोनों ग्रंथ प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों, कसायपाहुडसुत्त, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य से परवर्ती हैं और इन अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का स्पष्ट उल्लेख करने वाली श्वेताम्बर-दिगम्बर रचनाओं से पूर्ववर्ती हैं। साथ ही ये दोनों ग्रंथ समकालीन भी हैं, क्योंकि हम देखते हैं कि छठी शताब्दी उत्तरार्द्ध और उसके पश्चात् के श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रंथों में विशेष रूप से कर्म-सिद्धांत सम्बंधी ग्रंथों तथा तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में इन अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग स्पष्टतया किया जाने लगा था।

इससे यह भी फलित होता है कि जैन परम्परा में लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी

तक गुणस्थान की अवधारणा अनुपस्थित थी। लगभग पांचवीं शताब्दी में यह सिद्धांत अस्तित्व में आया, किंतु तब इसे गुणस्थान न कहकर जीवस्थान या जीवसमास कहा गया। लगभग छठी शताब्दी से इसके लिए गुणस्थान शब्द रूढ़ हो गया।

जिस प्रकार जीवसमास की प्रथम गाथा में गुणस्थान के लिए 'गुण' का प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार मूलाचार में भी इनके लिए 'गुण' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसमें चौदह गुणस्थानों का उल्लेख भी है। भगवती आराधना में यद्यपि एक साथ चौदह गुणस्थानों का उल्लेख नहीं है, किंतु ध्यान के प्रसंग में ७वें से १४वें गुणस्थान तक की, मूलाचार की अपेक्षा विस्तृत विवेचना हुई है। उसके पश्चात् देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि टीका में गुणस्थान (गुणट्टाण) का विस्तृत वर्णन मिलता है। पूज्यपाद देवनन्दी ने तो सर्वार्थसिद्धि टीका में सत्प्ररूपणा आदि द्वारों की चर्चा में मार्गणाओं की चर्चा करते हुए प्रत्येक मार्गणा के संदर्भ में गुणस्थानों का विस्तृत विवरण दिया है, यह विवरण आंशिक रूप से जीवसमास एवं षट्खण्डागम से समानता रखता है।

आचार्य कुन्दकुन्द की ही यह विशेषता है कि उन्होंने सर्वप्रथम नियमसार, समयसार आदि में मग्गणाठाण, गुणठाण और जीवठाण का उनके भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। इस प्रकार जीवठाण या जीवसमास शब्द जो समवायांग एवं षट्खण्डागम के काल तक गुणस्थान के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते थे, वे अब जीव की विविध योनियों के संदर्भ में प्रयुक्त होने लगे। कुन्दकुन्द के ग्रंथों में जीवस्थान का तात्पर्य जीवों के जन्म ग्रहण करने की विविध योनियों से है। इसका एक फलितार्थ यह है कि भगवती आराधना, मूलाचार तथा कुन्दकुन्द के काल तक जीवस्थान और गुणस्थान दोनों की अलग-अलग स्पष्ट धारणाएं बन चुकी थीं और इन दोनों के विवेच्य विषय भी अलग हो गए थे। जीवस्थान या जीवसमास का सम्बंध जीवयोनियों/जीवजातियों से और गुणस्थान का सम्बंध आत्मविशुद्धि/कर्मविशुद्धि से माना जाने लगा था। ज्ञातव्य है कि आचारांग आदि प्राचीन ग्रंथों में जहां गुण शब्द का प्रयोग बंधक तत्त्व के रूप में हो रहा था, वहां गुण शब्द का प्रयोग गुणस्थान में आत्मविशुद्धि का वाचक बन गया। इस प्रकार यदि गुणस्थान सिद्धांत के ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से विचार करें तो मूलाचार, भगवती आराधना, सर्वार्थसिद्धि टीका एवं कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार आदि सभी ग्रंथ लगभग छठी शती उत्तरार्द्ध या उससे भी परवर्ती ही सिद्ध होते हैं। निश्चय-ही प्रस्तुत जीवसमास और षट्खण्डागम उनसे कुछ पूर्ववर्ती है।

इन समस्त चर्चा से ऐसा लगता है कि लगभग पांचवीं शताब्दी के अंत में जब सर्वप्रथम गुणस्थान की अवधारणा सुव्यवस्थित हुई, तब उसे जीवस्थान या जीवसमास के नाम से अभिहित किया जाता था- गुणस्थान शब्द का प्रयोग अभी प्रचलित नहीं हुआ था। लगभग छठी शती से इसके लिए गुणस्थान शब्द रूढ़ हुआ और छठी शती के उत्तरार्द्ध में जीवस्थानों, मार्गणास्थानों और गुणस्थानों के सह-सम्बंध निश्चित हुए। गुणस्थान के इस ऐतिहासिक विकासक्रम को समझने के लिए नीचे हम दो सारणियां प्रस्तुत कर रहे हैं -

गुणस्थान सिद्धांत का उद्भव एवं विकास
सारिणी क्रमांक - १

तत्त्वार्थ एवं तत्त्वार्थभाष्य	कसायपाहुडसुत्त	समवायांग/ षट्खण्डागम/ जीवसमास	श्वेताम्बर- दिगम्बर तत्त्वार्थ की टीकाएं एवं आराधना, मूलाचार, समयसार, नियमसार आदि
१	२	३	४
३री-४थी शती गुणस्थान, जीव- समास, जीवस्थान मार्गणा आदि शब्दों का पूर्ण अभाव	४थी शती गुणस्थान, जीवस्थान, जीवसमास आदि शब्दों का अभाव, किंतु मार्गणा शब्द पाया जाता है।	५वीं-६ठी शती समवायांग में गुणस्थान शब्द का अभाव किंतु जीवठाण का उल्लेख है, जबकि जीवसमास एवं षट्खण्डागम में प्रारम्भ में	६ठी शती या उसके पश्चात् गुणस्थान शब्द की स्पष्ट उपस्थिति

१	२	३	४
कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं का चित्रण, मिथ्यात्व का अन्तर्भाव करने पर ११ अवस्थाओं का उल्लेख।	कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से मिथ्यादृष्टि की गणना करने पर प्रकार भेद से कुल १३ अवस्थाओं का उल्लेख।	जीवसमास और बाद में गुणस्थान के नाम से १४ अवस्थाओं का चित्रण । १४ अवस्थाओं का उल्लेख है।	१४ अवस्थाओं का उल्लेख है।
सास्वादन, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि और अयोगी केवली दशा का पूर्ण अभाव ।	सास्वादन (सासादन) और अयोगी केवली अवस्था का पूर्ण अभाव, किंतु सम्यक्मिथ्यादृष्टि की उपस्थिति।	सास्वादन, सम्यक्मिथ्या दृष्टि (मिश्रदृष्टि) और अयोगी केवली आदि का उल्लेख है।	उल्लेख है ।
अप्रमत्तसंयत, अपूर्व करण	अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण	उल्लेख है ।	उल्लेख है ।

१	२	३	४
(निवृत्तिबादर) अनिवृत्तिकरण (अ-निवृत्ति- बादर) जैसे नामों का अभाव।	(निवृत्तिबादर) अनिवृत्तिकरण (अनिवृत्तिबादर) जैसे नामों का अभाव है।		
उपशम और क्षय का विचार है, किंतु ८वें गुणस्थान में उपशम और क्षायिक श्रेणी से अलग-अलग आरोहण होता है। ऐसा विचार नहीं है।	उपशम और क्षपक का विचार है, किंतु ८वें गुणस्थान से उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी से अलग-अलग आरोहण होता है। ऐसा विचार नहीं है।	अलग-अलग श्रेणी विचार उपस्थित।	अलग-अलग श्रेणी-विचार उपस्थित।
पतन की अवस्था का कोई चित्रण नहीं है।	पतन की अवस्था का कोई चित्रण नहीं है।	पतन आदि का मूल पाठ में चित्रण नहीं है।	इन व्याख्या ग्रंथों में पतन आदि का चित्रण है।
जीवस्थान, मार्गणा-स्थान और गुणस्थान के सह- सम्बंध की चर्चा का अभाव है।	जीवस्थान मार्गणा- स्थान और गुणस्थान के सह-सम्बंधों की कोई चर्चा नहीं है।	समवायांग मूलपाठ में जीवस्थान और गुणस्थान दोनों को जीवस्थान ही कहा गया है। इसमें इनके सह-सम्बंध की कोई	सहसम्बंध की चर्चा है।

१	२	३	४
		चर्चा नहीं है, किंतु जीवसमास एवं षट्खण्डागम मूल में इनके सह- सम्बंधों की चर्चा है।	

सारिणी संख्या : २

तत्त्वार्थ सूत्र (तीसरी-चौथी शती)	कसायपाहुड (४थी शती उत्तरार्ध)	समवायांग/ षट्खण्डागम (लगभग ५वीं शती)	तत्त्वार्थ की टीकाएं (लगभग छठी शती)
मिथ्यात्व (इस संदर्भ में इसे परिगणित नहीं किया है)	मिच्छादिद्वि (मिथ्यादृष्टि)	मिच्छादिद्वि (मिथ्यादृष्टि)	मिथ्यादृष्टि
--	--	सास्वादन सम्यक्दृष्टि सासायण- सम्मदिद्वि	सास्वादन
--	सम्मा-मिच्छाद्वि (मिस्सगं)	सम्मा-मिच्छादिद्वि (सम्यक् मिथ्यादृष्टि)	सम्यगमिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि)

१. सम्यग्दृष्टि	सम्माइड्डी (सम्यक्दृष्टि) अविरदीए	अविरय सम्मादिड्डी	सम्यग्दृष्टि
२. श्रावक	विरदाविरदे (विरत- अविरत) देसविरयी (सागार) संजमासंजम	विरयाविरए (विरत- अविरत)	देशविरत
३. विरत	विरद (संजम)	पंमत्तसंजए	प्रमत्तसंयत
४. अनन्त- वियोजक	दंसणमोह उवसागमे (दर्शनमोह उपशामक)	अपमत्तसंजए	अप्रमत्तसंयत
५. दर्शनमोह- क्षपक	दंसणमोह खवगे (दर्शनमोह-क्षपक)	निअट्टिबायरे	अपूर्वकरण
६. (चारित्रमोह) उपशामक	चरितमोहस्स उपसामगे (उवसामणा)	अनिअट्टिबायरे	अनिवृत्तिकरण

--	सुहुमरागो	सुहुम-संपराए	सूक्ष्म-सम्पाराय
७. उपशान्त चारित्रमोह	उवसंत कसाय खवगे	उवसंत मोहे	उपशान्त-मोह
८. चारित्रमोह क्षपक	--	--	--
९. क्षीणमोह	खीणमोह (छदुमत्थो- वेदगो)	खीणमोहे	क्षीणमोह
१०. जिन	जिण केवली सव्वणहू, सव्वदरिसी (ज्ञातव्य है कि चूर्णि में 'संजोगिजिणो' शब्द है, मूल में नहीं है)	सजोगी केवली	सयोगी केवली
	चूर्णि में योगनिरोध का उल्लेख है, किंतु मूल में नहीं है।	अयोगी केवली	अयोगी केवली

ग्रंथ की भाषा एवं शैली

जहां-तक जीवसमास की भाषा का प्रश्न है, वह स्पष्टतया महाराष्ट्री प्राकृत है। इससे इसके सम्बंध में दो बातें निश्चित होती हैं- एक तो यह कि इसकी रचना सौराष्ट्र और राजस्थान में ही कहीं हुई होगी, क्योंकि यदि इसकी रचना मगध या शौरसेन में हुई होती तो इसकी भाषा में आर्ष अर्द्धमागधी अथवा शौरसेनी प्राकृत होती। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि इसकी रचना संघभेद के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में हुई है, क्योंकि इस युग के दिगम्बर ग्रंथ प्रायः शौरसेनी या महाराष्ट्री प्रभावित शौरसेनी में पाए जाते हैं। यद्यपि प्रस्तुत कृति महाराष्ट्री प्राकृत की रचना है, फिर भी इसमें कहीं-कहीं आर्ष अर्द्धमागधी के प्रयोग देखे जाते हैं।

जहां तक जीवसमास की शैली का प्रश्न है, निश्चय ही यह षट्खण्डागम के समरूप प्रतीत होती है, क्योंकि दोनों ही ग्रंथ चौदह मार्गणाओं एवं छह और आठ अनुयोगद्वारों के आधारों पर चौदह गुणस्थानों की चर्चा करते हैं। यद्यपि षट्खण्डागम की जीवसमास से अनेक अर्थों में भिन्नता है, जहां षट्खण्डागम सामान्यतया शौरसेनी में लिखा गया है, वहां जीवसमास सामान्यतया महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है। पुनः जहां षट्खण्डागम गद्य में है, वहां जीवसमास पद्य में है। जहां जीवसमास संक्षिप्त है, वहां षट्खण्डागम व्याख्यात्मक है, फिर भी विषय प्रस्तुतिकरण की शैली एवं विषयवस्तु को लेकर दोनों में पर्याप्त समरूपता भी है। षट्खण्डागम के प्रारम्भिक खण्ड जीवस्थान के समान इसका भी प्रारम्भ सत्-प्ररूपणा से होता है। इसमें भी गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, दर्शन, संयम, लेश्या, भव, सम्यक्, संज्ञा और आहार- इन चौदह मार्गणाओं के संदर्भ में चौदह गुणस्थानों की चर्चा है। षट्खण्डागम के प्रथम जीवस्थान के समान इसमें भी वही नाम वाले आठ अनुयोगद्वार हैं- १. सत्- प्ररूपणाद्वार, २. परिमाणद्वार, ३. क्षेत्रद्वार, ४. स्पर्शनाद्वार, ५. कालद्वार, ६. अनतद्वार, ७. भावद्वार, ८. अल्पबहुत्वद्वार।

इस प्रकार विषय प्रतिपादन में दोनों में अद्भूत शैलीगत समरूपता है, फिर भी षट्खण्डागम की अपेक्षा जीवसमास संक्षिप्त है। ऐसा लगता है कि षट्खण्डागम का प्रथम खण्ड जीवसमास की ही व्याख्या हो।

जीवसमास के आधारभूत ग्रंथ

जीवसमास ग्रंथ वस्तुतः दृष्टिवाद से उद्भूत किया गया है, क्योंकि उसकी अंतिम

गाथा में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि जिनोपदिष्ट बहुभंग वाले दृष्टिवाद के दृष्टि-स्थान से जीवसमास नामक यह ग्रंथ उद्धृत किया गया है। यद्यपि जीवसमास की विषयवस्तु से सम्बंधित अनेक विषयों की चर्चा भगवती, प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम, अनुयोगद्वार आदि श्वेताम्बर मान्य आगमों में मिलती है, किंतु यह कहना कठिन है कि इस ग्रंथ की रचना इन ग्रंथों के आधार पर हुई है, क्योंकि अनेक प्रश्नों पर प्रस्तुत ग्रंथ का मत भगवती, प्रज्ञापना आदि से भिन्न प्रतीत होता है। इसमें वर्णित अनेक विषय, जैसे मार्गणाओं और गुणस्थानों के सह-सम्बंध आदि ऐसे हैं, जिनका श्वेताम्बर मान्य इन आगमों में कोई उल्लेख ही नहीं है, किंतु आगमों की वलभी वाचना से परवर्ती चंद्रर्षि महत्तर के प्राचीन कर्मग्रंथों (छठी शती) में ये विषय चर्चित हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि ग्रंथकार ने जो दृष्टिवाद से इसको अवतरित करने की बात कही, वह आंशिक सत्य अवश्य है, क्योंकि कर्मों के बंध, उदय, क्षयोपशम आदि का विषय कम्मपयडी आदि पूर्व साहित्य के अंगीभूत ग्रंथों में ही अधिक सूक्ष्मता से विवेचित था। जैन परम्परा में अंगधरों के समान ही पूर्वधरों की एक स्वतंत्र परम्परा रही है और कर्म-साहित्य विशेष रूप से पूर्व-साहित्य का अंग रहा है। पुनः आगमिक मान्यताओं की अपेक्षा इसके मन्तव्यों का कर्मग्रंथकारों के अधिक निकट होना भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। आगमों, कर्मग्रंथों और जीवसमास के मन्तव्यों में कहां समरूपता है और कहां मतभेद है, यह सब विस्तार से अन्वेषणीय है।

षट्खण्डागम और जीवसमास

जैसा कि हमने पूर्व में अनेक स्थलों पर संकेत किया कि जीवसमास की सम्पूर्ण विषयवस्तु अपने वर्णित विषय और शैली की दृष्टि से षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान से पूर्णतः समरूपता रखती है। मात्र अंतर यह है कि जहां जीवसमास में यह वर्णन मात्र २८६ गाथाओं में किया गया है, वहीं वर्णन षट्खण्डागम के जीवस्थान में १८६० सूत्रों के द्वारा किया गया। दूसरा महत्त्वपूर्ण अंतर षट्खण्डागम और जीवसमास में यह है कि प्रत्येक अनुयोगद्वार की प्रत्येक प्ररूपणा के आधारभूत तथ्यों की जो विस्तृत चर्चा लगभग १११ गाथाओं में जीवसमास में की गई है, वह षट्खण्डागम के जीवस्थान में तो नहीं है, किंतु उसकी धवला टीका में अवश्य उपलब्ध होती है।

इस आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि क्या जीवसमासकार ने षट्खण्डागम के आधार पर ही तो इसकी रचना नहीं की है? किंतु ऐसा नहीं है। इस सम्बंध में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर षट्खण्डागम के विशिष्ट विद्वान् उसके सम्पादक

और भूमिका लेखक पं. हीरालालजी शास्त्री का मन्तव्य, उनकी षट्खण्डागम की भूमिका से उद्धृत करके अविकल रूप से दे रहे हैं। उनके निबंध का निष्कर्ष यही है- 'किसी पूर्ववेत्ता आचार्य ने दिन पर दिन क्षीण होती हुई लोगों की बुद्धि और धारणा शक्ति को देखकर ही प्रवचन-वात्सल्य से प्रेरित होकर इसे गाथा रूप में निबद्ध कर दिया है और वह आचार्य परम्परा से प्रवहमान होता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ है। उसमें जो कथन स्पष्ट था, उसकी व्याख्या में अधिक बल न देकर जो अपरूपित मार्गणाओं का गूढ़ अर्थ था, उसका उन्होंने भूतबलि और पुष्पदन्त को विस्तार से विवेचन किया और उन्होंने भी उसी गूढ़ रहस्य को अपनी रचना में स्पष्ट करके कहना या लिखना उचित समझा।'

मात्र इतना ही नहीं दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत विद्वान् आदरणीय पण्डित जी ने अपनी भूमिका के उपसंहार में इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जीवसमास षट्खण्डागम के जीवद्वान् प्ररूपणाओं का आधार रहा है। वे लिखते हैं-

'इस प्रकार जीवसमास की रचना देखते हुए उसकी महत्ता हृदय पर स्वतः ही अंकित हो जाती है और इस बात में कोई संदेह नहीं रहता कि उसके निर्माता पूर्ववेत्ता थे, या नहीं? क्योंकि उन्होंने उपर्युक्त उपसंहार गाथा में स्वयं ही 'बहुभंगदिट्टियाए' पद देकर अपने पूर्ववेत्ता होने का संकेत कर दिया है।'

समग्र जीवसमास का सिंहावलोकन करने पर पाठकगण दो बातों के निष्कर्ष पर पहुंचेंगे- एक तो यह कि विषय वर्णन की सूक्ष्मता और महत्ता की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है और दूसरी यह कि यह षट्खण्डागम के जीवद्वान्-प्ररूपणाओं का आधार रहा है।'

मात्र इतना ही नहीं, वे इस तथ्य को भी स्वीकार करते हैं कि श्वेताम्बर संस्थाओं से प्रकाशित 'पूर्वभृत्सूरिसूत्रित' जीवसमास प्राचीन है और षट्खण्डागम के जीवस्थान और दिगम्बर प्राकृत पंचसंग्रह के जीवसमास का किसी रूप में उपजीव्य भी रहा है। मात्र आदरणीय पण्डितजी ने षट्खण्डागम की भूमिका के अंत में यह अवश्य माना है कि जीवसमास में एक ही बात खटकने जैसी है, वह यह कि उसमें सोलह स्वर्गों के स्थान पर १२ स्वर्गों के ही नाम हैं। वे लिखते हैं- 'यद्यपि जीवसमास की एक बात अवश्य खटकने जैसी है कि उसमें १६ स्वर्गों के स्थान पर १२ स्वर्गों के ही नाम हैं और नव अनुदिशों का भी नाम-निर्देश नहीं है, तथापि जैसे तत्त्वार्थसूत्र के 'दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः' इत्यादि सूत्र में १६ के स्थान पर १२ कल्पों का निर्देश होने पर भी इंद्रों की विवक्षा करके और

‘नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु’ इत्यादि सूत्र में अनुदिशों के नाम का निर्देश नहीं होने पर भी उसकी ‘नवसु’ पद से सूचना मान करके समाधान कर लिया गया है, उसी प्रकार से यहां भी समाधान किया जा सकता है।’

यद्यपि आदरणीय पण्डितजी ने दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से यहां इस समस्या का समाधान तत्त्वार्थसूत्र के उस सूत्र की, सर्वार्थसिद्धि की व्याख्या के आधार पर करने का किया है, किंतु यहां मेरा दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। षट्खण्डागम में ऐसे अनेक तथ्य पाए जाते हैं, जो दिगम्बर परम्परा की आज की मूलभूत मान्यताओं से अंतर रखते हैं। यदि हम यहां स्त्री में सातवें गुणस्थान की सम्भावना और स्त्री-मुक्ति के समर्थक उसके प्रथम खण्ड सूत्र १३ की विवादास्पद व्याख्या को न भी लें, तो भी कुछ प्राचीन मान्यताएं षट्खण्डागम की ऐसी हैं, जो प्रस्तुत जीवसमास से समरूपता रखती हैं और दिगम्बर परम्परा की वर्तमान मान्यताओं से भिन्नता। आदरणीय पण्डितजी ने यहां यह प्रश्न उठाया है कि जीवसमास में १२ स्वर्गों की ही मान्यता है, किंतु स्वयं षट्खण्डागम में भी १२ स्वर्गों की ही मान्यता है। उसके वर्गणाखण्ड के प्रकृति अनुयोगद्वार की निम्न गाथाएं १२ स्वर्गों का ही निर्देश करती हैं-

सक्कीसाणा पठमं दोच्चं तु सणक्कुमार-माहिंदा ।

तच्च तु बम्ह-लंतय सुक्क-सहस्सारया चोत्थ ॥

- ५/५/७०, पृष्ठ सं. ७०५

आणद-पाणदवासी तह आरण-अच्चुदा यं जे देवा ।

पस्संति पंचमखिदिं छट्ठिम गोवज्जया देवा ॥

- ५/५/७१

सव्वं च लोगणालि पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा ।

सक्खेत्ते य सकम्मे रूवगदमणंतभागं च ॥

- ५/५/७२, पृष्ठ सं. ७०६

मात्र यह ही नहीं, जिस प्रकार जीवसमास में पांच ही मूल नयों की चर्चा हुई है, उसी प्रकार षट्खण्डागम में भी सर्वत्र उन्हीं पांच नयों का निर्देश हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र की प्राचीन भाष्यमान परम्परा भी पांच मूल नयों का ही निर्देश करती है, जबकि सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में सात नयों की चर्चा है। वस्तुतः, तत्त्वार्थसूत्र का भाष्यमान पाठ षट्खण्डागम और जीवसमास किसी प्राचीन धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। चाहे हम परम्परा आधारों

पर इन्हें एक-दूसरे के आधार पर बनाया गया न भी मानें तो भी इतना तो निश्चित ही है कि उनका मूल आधार पूर्वसाहित्य की परम्परा रही है।

श्वेताम्बर जीवसमास और दिगम्बर जीवसमास

प्रस्तुत जीवसमास के समान ही दिगम्बर परम्परा में प्राकृत पंचसंग्रह के अंतर्गत जीवसमास पाया जाता है। दोनों के नाम साम्य को देखकर स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा होती है कि इन दोनों में कितना साम्य और वैषम्य है और कौन किसके आधार पर निर्मित हुआ है। इस सम्बंध में भी यदि मैं अपनी ओर से कुछ कहता हूं, तो शायद यह समझा जाएगा कि मुझे कुछ पक्ष व्यामोह है। अतः इस सम्बंध में भी अपनी ओर से कुछ न कहकर पुनः दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत विद्वान् पण्डित हीरालालजी शास्त्री की पंचसंग्रह की भूमिका से ही कुछ अंश अविकल रूप से उद्धृत कर रहा हूं। आदरणीय पण्डितजी लिखते हैं -

‘पंचसंग्रह के प्रथम प्रकरण का नाम जीवसमास है। इस नाम का एक ग्रंथ श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था रतलाम की ओर से सन् १९२८ में एक संग्रह के भीतर प्रकाशित हुआ है, जिसकी गाथा संख्या २८६ है। नाम-साम्य होते हुए भी अधिकांश गाथाएं न विषय-गत समता रखती हैं और न अर्थगत समता ही। गाथा-संख्या की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त अंतर है, फिर भी जितना कुछ साम्य पाया जाता है, उनके आधार पर एक बात सुनिश्चित रूप से कही जा सकती है कि श्वेताम्बर संस्थाओं से प्रकाशित जीवसमास प्राचीन है। पंचसंग्रहकार ने उसके द्वारा सूचित अनुयोगद्वारों में से १-२ अनुयोगद्वार के आधार पर अपने जीवसमास प्रकरण की रचना की है। इसके पक्ष में कुछ प्रमाण निम्नप्रकार है -

१. श्वेताम्बर संस्थाओं से प्रकाशित जीवसमास को ‘पूर्वभृत्सूरिसूत्रित’ माना जाता है। इसका यह अर्थ है कि जब जैन परम्परा में पूर्वी का ज्ञान विद्यमान था, उस समय किसी पूर्ववेत्ता आचार्य ने इसका निर्माण किया है। ग्रंथ-रचना को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ भूतबलि और पुष्पदन्त से भी प्राचीन है और वह षट्खण्डागम के जीवद्विगण नामक प्रथम खण्ड की आठों प्ररूपणाओं के सूत्र-निर्माण में आधार रहा है तथा यही ग्रंथ प्रस्तुत पंचसंग्रह के जीवसमास नामक प्रथम प्रकरण का भी आधार रहा है। इसकी साक्षी में उक्त ग्रंथ की एक गाथा प्रमाण रूप से उपस्थित की जाती है, जो कि श्वेताम्बर जीवसमास में मंगलाचरण के पश्चात् ही पाई जाती है। वह इस प्रकार है-

णिक्रखेव-णिरुत्तीहिं य छहिं अट्टहिं अणुओगदारेहिं ।

गइआइमग्गणाहि य जीवसमासाऽणुगंतब्बा ॥ २ ॥

इसमें बतलाया गया है कि नामादि निक्षेपों के द्वारा निरुक्ति के द्वारा निर्देश, स्वामित्व आदि छह और सत्, संख्या आदि आठ अनुयोग-द्वारों से तथा गति आदि चौदह मार्गणा-द्वारों से जीवसमास को जानना चाहिए। इसके पश्चात् उक्त सूचना के अनुसार ही सत्-संख्यादि आठों प्ररूपणाओं आदि का मार्गणास्थानों में वर्णन किया गया है। इस जीवसमास प्रकरण की गाथा-संख्या की स्वल्पता और जीवट्टाण के आठों प्ररूपणाओं की सूत्र-संख्या की विशालता ही उसके निर्माण में एक-दूसरे की आधार-आधेयता को सिद्ध करती है।

जीवसमास की गाथाओं और षट्खण्डागम के जीवस्थानखण्ड को आठों प्ररूपणाओं का वर्णन-क्रम विषय की दृष्टि से कितना समान है, यह पाठक दोनों का अध्ययन कर स्वयं ही अनुभव करें।

प्रस्तुत पंचसंग्रह के जीवसमास-प्रकरण के अंत में उपसंहार करते हुए जो १८२ अंक-संख्या वाली गाथा पाई जाती है, उससे भी हमारे उक्त कथन की पुष्टि होती है। वह गाथा इस प्रकार है-

णिक्रखेवे एयट्टे णयप्पमाणे णिरुक्ति-अणिओगे ।

मग्गइ वीसं भेए सो जाणइ जीवसब्भावं ॥

अर्थात् जो पुरुष निक्षेप, एकार्थ, नय, प्रमाण, निरुक्ति और अनुयोगद्वारों से मार्गणा आदि बीस भेदों में जीव का अन्वेषण करता है, वह जीव के यथार्थ सद्भाव या स्वरूप को जानता है।

पाठक स्वयं ही देखें कि पहली गाथा की बात को ही दूसरी गाथा के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। केवल एक अंतर दोनों में है। वह यह कि पहली गाथा उक्त प्रकरण के प्रारम्भ में दी है, जबकि दूसरी गाथा उस प्रकरण के अंत में। पहले प्रकरण में प्रतिज्ञा के अनुसार प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन किया गया है, जबकि दूसरे प्रकरण में केवल एक निर्देश- अनुयोगद्वार से १४ मार्गणाओं में जीव की विंशतिविधा सत्प्ररूपणा की गई है और शेष संख्यादि प्ररूपणाओं को न कहकर उनको जानने की सूचना कर दी गई है।

२. पृथिवी आदि षट्कायिक जीवों के भेद प्रतिपादन करने वाली गाथाएं भी

दोनों जीवसमासों में बहुत कुछ समानता रखती हैं।

३. प्राकृत वृत्तिवाले जीवसमास की अनेक गाथाएं उक्त जीवसमास में ज्यों-की-त्यों पाई जाती है।

उक्त समता के होते हुए भी पंचसंग्रहकार ने उक्त जीवसमास-प्रकरण की अनेक गाथाएं जहां संकलित की हैं, वहां अनेक गाथाएं उन पर भाष्यरूप से रची है और अनेक गाथाओं का आगम के आधार पर स्वयं भी स्वतंत्र रूप से निर्वाण किया है। (पृ. ३७), फिर भी यह सत्य है कि दोनों जीवसमासों में कुछ गाथाएं समान हैं। अनुवादिका साध्वी श्री विद्युत्प्रभा श्री जी के सहयोग से जो कुछ समान गाथाएं हमें प्राप्त हो सकीं वे नीचे दी जा रही हैं-

जीवसमास-पंचसंग्रह : तुलनात्मक अध्ययन

(१) मार्गणा

जीवसमास-

गइ इन्दिय काए जोए वेए कसाय नाणे य ।

संजम दंसण लेस्सा भव सम्मे सन्नि आहारे ॥ ६ ॥

पंचसंग्रह -

गइ इन्दियं च काए जोए वेए कसाय नाणे य ।

संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत सण्णि आहारे ॥५७॥

(२) जीव के भेद

जीवसमास -

एगिंदिया य बायरसुहुमा पज्जतया अपज्जता ।

बियतिय चउरिंदिय दुविह भेय पज्जत इयरे य ॥ २३ ॥

पंचिन्दिया असण्णी सण्णी पज्जतया अपज्जता ।

पंचिदिएसु चोदस मिच्छदिट्ठि भवे सेसा ॥ २४ ॥

पंचसंग्रह -

बायरसुहुमेगिंदिय बि-ति-चउरिंदिय असण्णी-सण्णीय।

पज्जतापज्जता एवं चोदसा होंति ॥ ३४ ॥

(३) गुणस्थान

जीवसमास -

मिच्छाऽऽसायण मिस्सा आविरयसम्मा य देसविरया य ।
विरया पमत्त इयरे अपुव्व अणियट्ठि सुहुमा य ॥ ८ ॥
उवसंत खीणमोहा सजोगी केवलिजिणो अजोगी य ।
चौद्दस जीवसमासा कमेण एएऽणुगंतव्वा ॥ ९ ॥

पंचसंग्रह -

मिच्छोसासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसरिदो य ।
विरदो पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्ठि सुहमो य ॥ ४ ॥
उवसंत खीणमोहो सजोगिकेवली जिणो अजोगी य ।
चौद्दस गुणट्ठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥ ५ ॥

(४) पर्याप्ति

जीवसमास -

आहार सरीरिदिय पज्जत्ती आणपाण भासमणे ।
चत्तारि पंचछप्पिय एग्गिदिय विगल सण्णीणं ॥ २५ ॥

पंचसंग्रह -

आहारसरीरिदियपज्जत्ती आणपाणभासमणो ।
चत्तारि पंच छप्पिय एइंदिय-वियल-सण्णीणं ॥ ४४ ॥

(१) पृथ्वीकाय

जीवसमास -

पुढवी य सक्कर बालुया य उवले सिला य लोणूसे ।
अयतंब तउय सीसय रूपा सुवण्णे य वइर य ॥ २७ ॥

पंचसंग्रह -

पुढवी य सक्करा बालुया य उवले सिलाइ छत्तीसा ।
पुढवीमया हु जीवा णिद्धिद्धा जिणवरिदेहिं ॥ ७७ ॥

(२) अप्पकाय

जीवसमास -

ओसा य हिमं महिगा हरतणु सुद्धोदए घणोए य ।
वण्णईहि य भेया सुहुमाणं नत्थि ते भेया ॥ ३१ ॥

पंचसंग्रह -

ओसा य हिमिय महिया हरदणु सुद्धोदयं घणुदयं च ।
एदे दु आउकाया जीवा जिणसासणे दिट्ठा ॥ ७८ ॥

(३) तेउकाय

जीवसमास-

इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणी य अगणी य ।
वणाईहि य भेया सुहुमाणं नत्थि ते भेया ॥ ३२ ॥

पंचसंग्रह -

इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणी य अगणी य ।
अण्णेवि एवमाई तेउक्काया समुदिट्ठा ॥ ७९ ॥

(४) वायुकाय

जीवसमास -

वाउब्भामे ऊक्कलि मंडलिगुंजा महाघणतणु या ।
वण्णाईहि य भेया सुहुमाण नत्थि ते भेया ॥ ३३ ॥

पंचसंग्रह -

वाउब्भामो उक्कलि मंडलि गुंजा महाघण तणू य ।
एदे दु वाउकाया जीवा जिणसासणे दिट्ठा ॥ ८० ॥

(५) वनस्पतिकाय

जीवसमास -

मूलंगपोरबीया कंदा तह खंधबीय बीयरूहा ।
संभुच्छिमा य भणिया पत्तेय अणंतकाया या ॥ ३४ ॥

पंचसंग्रह -

मूलगापोरबीया कंदा तह खंध बीय बीयरूहा ।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥ ८१ ॥

नरकों में लेश्या

जीवसमास -

काऊ काऊ तह काऊनील नीला य नीलकिण्हा य ।
किण्हा य परमकिण्हा लेसा रयणप्पभाइणं ॥ ७२ ॥

पंचसंग्रह -

काऊ काऊ तह काऊ-काउ-णीण नीला य नील-किण्हा या
किण्हा य परमकिण्हा लेसा रयणादि-पुढवीसु ॥ १८५ ॥

देवों में लेश्या

जीवसमास-

तेऊ तेऊ तह तेऊ पम्ह पम्हा य पम्हसुक्का य ।
सुक्का य परमसुक्का सक्कादिविमाणवासीणं ॥ ७३ ॥

पंचसंग्रह -

तेऊ तेऊ वह तेउ-पम्ह पम्मा य पम्म-सुक्का य ।
सुक्का य परमसुक्का लेसा भवणाइदेवाणं ॥ १८९ ॥

भव्यत्व

जीवसमास -

मिच्छदिट्ठि अभव्वा भवसिद्धाया य सव्वठाणेसु ।
सिद्धा नेव अभव्वा नवि भव्वा हुंति नायव्वा ॥ ७५ ॥

पंचसंग्रह -

ण य जे भव्वाभव्वा मुत्तिसुहा होंति तीदसंसारा ।
ते जीवा णायव्वा णो भव्वा णो अभव्वा य ॥ १५७ ॥

आहारक

जीवसीमास -

विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य ।
सिद्धा य आणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥ ८२ ॥

पंचसंग्रह -

विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुह या अजोगी य ।
सिद्धा य आणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥ १७७ ॥

समुद्घात

जीवसमास -

वेयण कसाय मरणे वेउव्वि य तेयए य आहारे ।
केवलि य समुग्घाए सत्तय मणुएसु नायव्वा ॥ १९२ ॥

पंचसंग्रह -

वेयण कसाय वेउव्विय मारणंतिओ समुग्घाओ ।
तेजाऽऽहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं च ॥ १९६ ॥

नरक में अंतरकाल

जीवसमास -

चउवीस मुहुत्ता सत्त दिवस पक्खो य मास दुग चउरो ।
छम्मासा रयणाइसु चउवीस मुहुत्त सण्णियरे ॥ २५० ॥

पंचसंग्रह -

पणयालीस मुहुत्ता पक्खो मासो य विण्णिण चउमासा ।
छम्मास वरिसमेय च अंतरं होइ पुढवीणं ॥ २०६ ॥

(१) नरक (२) नरक (३) नरक (४) नरक (५) नरक (६) नरक (७) नरक
जीवसमास २४ मुहूर्त ७ दिन १ पक्ष १ मास २ मास ४ मास ६
मास ॥ २५० ॥ पंचसंग्रह ४५ मुहूर्त १ पक्ष १ मास २ मास ४ मास ६
मास १ वर्ष ॥ २०६ ॥

सम्यक्त्वादि का विरहकाल

जीवसमास -

सम्मत्त सत्तगं खलु वरियाविरई होइ चौदसगं ।

विरईए पनरसगं विरहिय कालो अहोरत्ता ॥२६२॥

पंचसंग्रह -

सम्मत्ते सत्त दिणा विरदाविरदे य चउदसा होंति ।

विरदेसु य पण्णरसं विरहियकालो य बोहव्वो ॥२०५॥

दोनों गाथा का अर्थ समान है। मात्र शब्दों का अंतर है।

विषयवस्तु

जीवसमास की प्रारम्भिक गाथाओं में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इस ग्रंथ में चार निक्षेपों, छह एवं आठ अनुयोगद्वारों और चौदह मार्गणाओं के आधार पर जीव के स्वरूप का एवं उसके आध्यात्मिक विकास की चौदह अवस्थाओं का अर्थात् चौदह गुणस्थानों का विवेचन किया गया है। सम्पूर्ण ग्रंथ २८७ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है और निम्न आठ द्वारों में विभक्त किया गया है- (१) सत्पदप्ररूपणा, (२) द्रव्य-परिमाण, (३) क्षेत्र, (४) स्पर्शना, (५) काल, (६) अंतर, (७) भाव और (८) अल्पबहुत्वा इन आठ अनुयोगद्वारों को आधार बनाकर प्रत्येक द्वार में जीव के तत्सम्बन्धी पक्ष की चर्चा की गई है। आठ अनुयोगद्वारों के उल्लेख के पश्चात् ग्रंथ में चौदह मार्गणास्थानों, चौदह जीवस्थानों और चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश किया गया है। मार्गणा वह है, जिसके माध्यम से जीव अपनी अभिव्यक्ति करता है। जीव की शारीरिक, ऐन्द्रिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्तियों के जो मार्ग हैं वे ही मार्गणा कहे जाते हैं। मार्गणाएं निम्न हैं- (१) गति-मार्गणा, (२) इन्द्रिय-मार्गणा, (३) काय-मार्गणा, (४) योग-मार्गणा, (५) वेद-मार्गणा, (६) कषाय-मार्गणा, (७) ज्ञान-मार्गणा, (८) संयम-मार्गणा, (९) दर्शन-मार्गणा, (१०) लेश्या-मार्गणा, (११) भव्यत्व-मार्गणा, (१२) सम्यक्त्व-मार्गणा, (१३) संज्ञी-मार्गणा और (१४) आहार-मार्गणा। इसी क्रम में आगे चौदह गुणस्थानों का जीवसमास के नाम से निर्देश किया गया है। वे चौदह गुणस्थान निम्न हैं-

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान, (२) सास्वादन गुणस्थान, (३) मिश्र गुणस्थान, (४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, (५) देश-विरत गुणस्थान, (६) प्रमत्तसंयम गुणस्थान,

(७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान, (८) अपूर्वकरण गुणस्थान, (९) अनिवृत्तिबादर गुणस्थान, (१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान, (११) उपशान्तमोह गुणस्थान, (१२) क्षीणमोह गुणस्थान, (१३) सयोगीकेवली गुणस्थान और (१४) अयोगीकेवली गुणस्थान।

इन प्रारम्भिक निर्देशों के पश्चात् जीवसमास के प्रथम सत्पदप्ररूपणाद्वार में उपर्युक्त चौदह मार्गणाओं के संदर्भ में उनकी भेद-प्रभेदों की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि किस मार्गणा के किस भेद अथवा प्रभेद में कितने गुणस्थान उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः, प्रथम सत्पदप्ररूपणा-द्वार चौदह मार्गणाओं और चौदह गुणस्थानों के पारस्परिक सह-सम्बंधों को स्पष्ट करता है। हमारी जानकारी में अचेल परम्परा में षट्खण्डागम और सचेल परम्परा में जीवसमास ही वे प्रथम ग्रंथ हैं, जो गुणस्थानों और मार्गणाओं के सह-सम्बंध को स्पष्ट करते हैं। ज्ञातव्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथ नियमसार में जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान तीनों को स्वतंत्र सिद्धांतों के रूप में प्रतिस्थापित किया है। ऐसा लगता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय में ये तीनों अवधारणाएं न केवल विकसित हो चुकी थीं, अपितु इनके पारस्परिक सम्बंध भी सुस्पष्ट किए जा चुके थे। यदि हम इस संदर्भ में जीवसमास की स्थिति का विचार करें तो हमें स्पष्ट लगता है कि जीवसमास के रचनाकाल तक ये अवधारणाएं अस्तित्व में तो आ चुकी थीं, किंतु इनका नामकरण संस्कार नहीं हुआ था। जीवसमास की गाथा छह में चौदह मार्गणाओं के नामों का निर्देश है, किंतु यह निर्देश नहीं है कि इन्हें मार्गणा कहा जाता है। इसी प्रकार गाथा आठ और नौ में चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश है, किंतु वहां इन्हें गुणस्थान न कहकर जीवसमास कहा गया है। उसी काल के अन्य दो ग्रंथ समवायांग और षट्खण्डागम भी गुणस्थानों के लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग न कर क्रमशः जीवस्थान और जीवसमास शब्द का प्रयोग करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ही प्रथम व्यक्ति हैं जो इन तीनों अवधारणाओं को स्पष्टतया अलग-अलग करते हैं। इसी आधार पर प्रो. ढाकी आदि कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि कुन्दकुन्द का काल छठी शताब्दी के पश्चात् ही मानना होगा, जब ये तीनों अवधारणाएं एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् स्थापित हो चुकी थीं और इनमें से प्रत्येक के एक-दूसरे से पारस्परिक सम्बंध को भी सुनिश्चित रूप से निर्धारित कर दिया गया था।

प्रस्तुत कृति में चौदह गुणस्थानों के नाम निर्देश के पश्चात् जीव के प्रकारों की चर्चा हुई है, उसमें सर्वप्रथम यह बताया गया है कि अयोगी केवली दो प्रकार के होते हैं- सभव और अभव। अभव को ही सिद्ध कहा गया है। पुनः सांसारिक जीवों में उनके चार प्रकारों की चर्चा हुई है- (१) नारक, (२) तिर्यच, (३) मनुष्य और (४) देवता।

इसके पश्चात् प्रस्तुत कृति में नारकों के सात भेदों और देवों के भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये चार भेद किए गए हैं। इसके पश्चात् इनके उपभेदों की भी चर्चा हुई है। गुणस्थान सिद्धांत के संदर्भ में उपरोक्त चारों गतियों की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि देव और नारक योनियों में प्रथम चार गुणस्थान पाए जाते हैं। तिर्यचगति में प्रथम पांच गुणस्थान पाए जाते हैं, जबकि मनुष्य गति में चौदह ही गुणस्थान पाए जाते हैं। ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत प्रसंग में इनके लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग न करते हुए जीवस्थान शब्द का ही प्रयोग किया गया है। इसके पश्चात् पर्याप्त और अपर्याप्त की चर्चा में यह बताया गया है कि अपर्याप्त में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। पर्याप्त में उनकी गति के अनुसार गुणस्थान पाए जाते हैं। इसके पश्चात् इंद्रियों की दृष्टि से चर्चा की गई है। इसमें एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की चर्चा है। इसमें चतुरिन्द्रिय तक केवल मिथ्यात्व गुणस्थान होता है, जबकि पंचेन्द्रिय में चौदह गुणस्थान पाए जाते हैं।

इसके पश्चात् प्रस्तुत कृति में इंद्रिय-मार्गणा की चर्चा करते हुए एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के भेद-प्रभेदों की विस्तार से चर्चा की गई है। इसमें यह बताया गया है कि एकेन्द्रिय जीव, बादर (स्थूल) और सूक्ष्म ऐसे दो प्रकार के होते हैं। पुनः इन दोनों ही प्रकारों के पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो-दो उपभेद होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के भी पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो भेद होते हैं। पंचेन्द्रियों के पर्याप्त, अपर्याप्त तथा संज्ञी और असंज्ञी ऐसे उपभेद होते हैं। इनमें पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय में चौदह गुणस्थान होते हैं, शेष सभी जीवों में मात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। ज्ञातव्य है कि इसी संदर्भ में जीवसमास में आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन- ये छः पर्याप्तियां बताई गई हैं और यह बताया गया है कि एकेन्द्रिय जीवों में चार, विकलेन्द्रिय में पांच और संज्ञी पंचेन्द्रिय में छः पर्याप्तियां होती हैं।

काय-मार्गणा की चर्चा करते हुए इसमें षट्जीवनिकायों और उनके भेद-प्रभेदों की विस्तार से चर्चा की गई है। षट्जीवनिकायों के भेद-प्रभेदों की यह चर्चा मुख्यतः उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन के समान ही है। यद्यपि यह चर्चा उसकी अपेक्षा संक्षिप्त है, क्योंकि इसमें त्रस-जीवों की चर्चा अधिक विस्तार से नहीं की गई है। इसी काय-मार्गणा की चर्चा के अंतर्गत ग्रंथकार ने जीवों के विभिन्न कुलों (प्रजातियों) एवं योनियों (जन्म ग्रहण करने के स्थान) की भी चर्चा की गई है। योनियों की चर्चा के प्रसंग में संवृत्त, विवृत्त, संवृत्त-विवृत्त तथा सजीव, निर्जीव और सजीव-निर्जीव एवं शीत, उष्ण तथा शीतोष्ण योनियों की चर्चा है। इसी क्रम में आगे छह प्रकार के संघयण तथा

छह प्रकार के संस्थानों की भी चर्चा की है। इसी क्रम में इस सबकी भी विस्तार से चर्चा की गई है कि किन-किन जीवों की कितनी कुलकोटियां होती हैं। वे किस प्रकार की योनि में जन्म ग्रहण करते हैं। उनका अस्थियों का ढांचा अर्थात् संघहन किस प्रकार का होता है तथा उनकी शारीरिक संरचना कैसी होती है? इसी क्रम में आगे पांच प्रकार के शरीरों की भी चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि किस प्रकार के जीवों को कौन-कौन से शरीर प्राप्त होते हैं।

योग-मार्गणा के अंतर्गत मन, वचन और काययोग की चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि किस प्रकार के योग में कौन-सा गुणस्थान पाया जाता है।

योग-मार्गणा के पश्चात् वेद-मार्गणा की चर्चा की गई है। जैन परम्परा में वेद का तात्पर्य स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक की काम वासना से है।

वेदमार्गणा की चर्चा के पश्चात् कषाय-मार्गणा की चर्चा है। इसमें क्रोध, मान, माया और लोभ-इन चार कषायों में प्रत्येक के अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानी-प्रत्याख्यानी एवं संज्वलन ऐसे चार-चार विभाग किए गए हैं और यह बताया गया है कि किस गुणस्थान में कौन से प्रकार के कषाय पाए जाते हैं।

अग्रिम ज्ञान-मार्गणा के अंतर्गत पांच प्रकार के ज्ञानों की चर्चा है। इसमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यज्ञान के भेद-प्रभेद भी बताए गए हैं तथा यह बताया गया है कि केवलज्ञान का कोई भेद नहीं होता है। आगे इसी प्रसंग में कौन से ज्ञान किस गुणस्थान में पाए जाते हैं, इसका भी संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध होता है।

संयम-मार्गणा के अंतर्गत पांच प्रकार के संयमों की चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि किस गुणस्थान में कौन-सा संयम पाया जाता है। इसी चर्चा के प्रसंग में पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रथ और स्नातक ऐसे पांच प्रकार के श्रमणों का भी उल्लेख किया गया है।

दर्शन-मार्गणा के अंतर्गत चार प्रकार के दर्शनों का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि किस गुणस्थान में कितने दर्शन होते हैं।

लेश्या-मार्गणा के अंतर्गत छः लेश्याओं का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। इसी क्रम में लेश्या और गुणस्थान के सह-सम्बंध को भी निरूपित किया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि नारकीय जीवों और देवताओं में किस प्रकार लेश्या पाई जाती है, किंतु यहां हमें ध्यान रखना चाहिए कि नारकीय जीवों और देवों के सम्बंध में जो

लेश्या की कल्पना है, वह द्रव्य-लेश्या को लेकर है, उनमें भाव-लेश्या तो छहों ही सम्भव हो सकती है। वस्तुतः, यहां द्रव्य-लेश्या स्वभावगत विशेषता की सूचक है।

भव्यत्व मार्गणा के अंतर्गत भव्य और अभव्य ऐसे दो प्रकार के जीवों का निर्देश है। जैन दर्शन में भव्य से तात्पर्य उन आत्माओं से है जो मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हैं। इसके विपरीत अभव्य जीवों में मोक्ष को प्राप्त करने की क्षमता का अभाव होता है। गुणस्थानों की अपेक्षा से अभव्य जीवों में मात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है, जबकि भव्य जीवों में चौदह ही गुणस्थान सम्भव हैं।

भव्यत्व-मार्गणा के पश्चात् प्रस्तुत कृति में सम्यक्त्व-मार्गणा का निर्देश किया गया है। सम्यक्त्व-मार्गणा के अंतर्गत औपशमिक, वेदक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ऐसे चार प्रकार के सम्यक्त्व की चर्चा है। इसमें यह भी बताया गया है कि किस-किस गुणस्थान में किस प्रकार का सम्यक्त्व पाया जाता है।

संज्ञी-मार्गणा के अंतर्गत संज्ञी और असंज्ञी- ऐसे दो प्रकार के जीवों का निर्देश किया गया है। जिनमें हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक करने की सामर्थ्य होती है, उसे संज्ञी कहा जाता है। गुणस्थानों की अपेक्षा से यहां यह बताया है कि असंज्ञी जीवों में मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान होता है, जबकि संज्ञी जीवों में सभी गुणस्थान सम्भव होते हैं।

आहार-मार्गणा के अंतर्गत जीवों के दो भेद किए गए हैं - (१) आहारक, (२) अनाहारक। इसमें यह भी बताया गया है कि पुनर्जन्म ग्रहण करने हेतु विग्रहगति से गमन करने वाले जीव, केवली-समुद्घात करते समय केवली तथा अयोगी केवली और सिद्ध ये अनाहारक होते हैं। शेष सभी आहारक होते हैं। इस प्रकार जीवसमास के इस प्रथम स्पदप्ररूपणा-द्वार में चौदह-मार्गणाओं का चौदह गुणस्थानों से पारस्परिक सम्बंध स्पष्ट किया गया है। यद्यपि गम्भीरता से देखने पर यह लगता है कि जीवसमास उस प्रारम्भिक स्थिति का ग्रंथ है, जब मार्गणाओं और गुणस्थानों के सह-सम्बंध निर्धारित किए जा रहे थे।

जीवसमास का दूसरा द्वार परिमाणद्वार है, इस द्वार में सर्वप्रथम परिमाण के द्रव्य-परिमाण, क्षेत्र-परिमाण, काल-परिमाण और भाव-परिमाण ये चार विभाग किए गए हैं। पुनः द्रव्य-परिमाण के अंतर्गत मान, उन्मान, अवमान, गनिम और प्रतिमान- ऐसे पांच विभाग किए गए हैं, जो विभिन्न प्रकार के द्रव्यों (वस्तुओं) के तौलमाप से सम्बंधित हैं, क्षेत्र-परिमाण के अंतर्गत अंगुल, वितस्ति, कुक्षी, धनुष, गाऊ, श्रेणी आदि क्षेत्र को

मापने के पैमानों की चर्चा की है। इसी क्रम में अंगुल की चर्चा करते हुए उसके उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल ऐसे तीन भेद किए हैं। पुनः इनके भी प्रत्येक के सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, धनांगुल ऐसे तीन-तीन भेद किए गए हैं। सूक्ष्म क्षेत्रमाप के अंतर्गत परमाणु, उर्ध्वरेणू, त्रसरेणू, रथरेणू, बालाग्र, लीख, जूँ और जव की चर्चा की गई है और बताया गया है कि आठ जवों से एक अंगुल बनता है। पुनः छः अंगुल से एक पाद, दो पाद से एक वितस्ति तथा दो वितस्ति का एक हाथ होता है, ४ हाथों का एक धनुष होता है, २००० हाथ या ५०० धनुष का एक गाऊ (कोश) होता है। पुनः ४ गाऊ का एक योजन होता है।

काल-परिमाण की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि काल की सबसे सूक्ष्म इकाई समय है। असंख्य समय की एक आवलिका होती है। संख्यात आवलिका का एक श्वासोच्छ्वास अर्थात् प्राण होता है। सात प्राणों का एक स्तोक होता है। सात स्तोकों का एक लव होता है। साढ़े अड़तीस लव की एक नालिका होती है। दो नालिकाओं का एक मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र (दिवस) होता है। पंद्रह अहोरात्र का एक पक्ष होता है। दो पक्ष का एक मास होता है। दो मास की एक ऋतु होती है। तीन ऋतुओं का एक अयन होता है। दो अयन का एक वर्ष होता है। चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है। चौरासी लाख वर्षों को चौरासी लाख-लाख वर्षों से गुणित करने पर एक पूर्व होता है। पूर्व के आगे नयूतांग, नयूत नलिनांग, नलिन आदि की चर्चा करते हुए अंत में शीर्ष-प्रहेलिका का उल्लेख किया गया है। इसके आगे का काल संख्या के द्वारा बताना सम्भव नहीं होने से उसे पल्योपम, सागरोपम आदि उपमानों से स्पष्ट किया गया है। जीवसमास में पल्योपम, सागरोपम के विविध प्रकारों और उनके उपमाओं के द्वारा मापने की विस्तृत चर्चा की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में काल के पैमानों की अतिविस्तृत और गम्भीर चर्चा उपलब्ध होती है।

द्रव्य-परिमाण नामक इस द्वार के अंत में भाव-परिमाण की चर्चा है। इसमें संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद-प्रभेदों का अत्यंत ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। भाव-परिमाण की इस चर्चा के अंत में जीवसमास में प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणों की चर्चा हुई है। इसमें इंद्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ऐसे चार प्रमाणों को दो भागों में विभक्त किया गया है। इंद्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान को मतिज्ञान के अंतर्गत तथा आगम को श्रुतज्ञान के अंतर्गत वर्गीकृत किया गया है।

आगे नय प्रमाण की चर्चा करते हुए मूल ग्रंथ में मात्र नैगम, संग्रह, व्यवहार,

ऋजुसूत्र और शब्द ऐसे पांच नयों का उल्लेख हुआ है।

इसी क्रम में इस द्रव्य-परिमाण-द्वार के अंतर्गत विभिन्न गुणस्थानों में और विभिन्न मार्गाओं में जीवों की संख्या का परिमाण बतलाया गया है। जीवसमास में प्रथम सत्परूपणाद्वार की चर्चा लगभग ८५ गाथाओं में की गई है, वहीं दूसरे द्रव्य-परिमाण-द्वार की चर्चा भी लगभग ८२ गाथाओं में पूर्ण होती है। उसके बाद क्षेत्र-द्वार आदि शेष छःद्वारों की चर्चा अत्यंत संक्षिप्त रूप में की गई है।

तीसरे क्षेत्र-द्वार में सर्वप्रथम आकाश को क्षेत्र कहा गया है और शेष जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल को क्षेत्रीय अर्थात् उसमें रहने वाला बताया गया है। इस द्वार के अंतर्गत सर्वप्रथम चारों गति के जीवों के देहमान की चर्चा की गई है। प्रस्तुत कृति में देहमान की यह चर्चा पर्याप्त विस्तार के साथ उपलब्ध होती है। यह बताया गया है कि किस गुणस्थानवर्ती जीव लोक के कितने भाग में होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव सम्पूर्ण लोक में पाए जाते हैं, शेष गुणस्थानवर्ती जीव लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं, यद्यपि केवली समुद्घात करते समय सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं। इस चर्चा के पश्चात् इसमें यह बताया गया है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय और अपर्याप्त बादर जीव सर्वलोक में होते हैं, शेष जीवलोक के भाग विशेष में होते हैं। यहां वायुकायिक जीवों को स्व-स्थान की अपेक्षा से तो लोक के भाग विशेष में ही माना गया है, किंतु उपपात अथवा समुद्घात की अपेक्षा से वे भी सर्वलोक में होते हैं। जीव स्वस्थान, समुद्घात तथा उपपात की अपेक्षा से जिस स्थान विशेष में रहता है, वह क्षेत्र कहलाता है, किंतु भूतकाल में जिस क्षेत्र में वह रहा था, उसे स्पर्शना कहते हैं। स्पर्शना की चर्चा अग्रिमद्वार में की गई है। क्षेत्र-द्वार के अंत में यह बताया गया है कि आकाश को छोड़कर शेष पांचों द्रव्य लोक में होते हैं, जबकि आकाश लोक और अलोक दोनों में होता है।

चतुर्थ स्पर्शनाद्वार के अंतर्गत सर्वप्रथम लोक के स्वरूप एवं आकार का विवरण दिया गया है। इसी क्रम में उर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक का विवेचन किया गया है। तिर्यक्लोक के अंतर्गत जम्बूद्वीप और मेरुपर्वत का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और उसके पश्चात् द्विगुण-द्विगुण विस्तार वाले लवण समुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि समुद्र, पुष्करद्वीप और उसके मध्यवर्ती मानुषोत्तर पर्वत की चर्चा है। इसी चर्चा के अंतर्गत यह भी बताया गया है कि मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत तक ही निवास करते हैं, यद्यपि इसके आगे भी द्विगुणित-द्विगुणित विस्तार वाले असंख्य द्वीप-समुद्र हैं। सबके अंत में

स्वसम्भूरमण समुद्र है। इस द्वार के अंत में निम्न सात समुद्रघातों की चर्चा की गई है-

(१) वेदनासमुद्रघात, (२) कषाय समुद्रघात, (३) माराणान्तिक समुद्रघात, (४) वैक्रिय समुद्रघात, (५) तेजस् समुद्रघात, (६) आहारक समुद्रघात और (७) केवली समुद्रघात। समुद्रघात का तात्पर्य आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर लोक में प्रसारित कर विभिन्न कर्मों की निर्जरा करना है। इसी क्रम में आगे यह बताया गया है कि किन जीवों में कितने समुद्रघात सम्भव होते हैं। इसके पश्चात् इस स्पर्शन नामक द्वार में विभिन्न गुणस्थानवर्ती जीव लोक के कितने भाग की स्पर्शना करते हैं, यह बताया गया है। अंत में चारों गति के जीव लोक के कितने-कितने भाग का स्पर्श करते हैं, इसकी चर्चा की गई है।

पांचवें काल-द्वार के अंतर्गत तीन प्रकार के कालों की चर्चा की गई है- (१) भवायु काल, (२) कायस्थिति काल, (३) गुणविभाग काल और इसमें काल के अंतर्गत चारों गतियों के जीवों की अधिकतम और न्यूनतम आयु कितनी होती है, इसकी विस्तार से चर्चा की गई है। यह चर्चा दो प्रकार से की गई है। जीव विशेष की अपेक्षा से और उन-उन गति के जीवों के सर्वजीवों की अपेक्षा से यह बताया गया है कि अपर्याप्त मनुष्यों को छोड़कर नारक, तिर्यच, देवता और पर्याप्त मनुष्य सभी कालों में होते हैं। इस चर्चा के पश्चात् प्रस्तुत द्वार में कायस्थिति की चर्चा की गई है। किसी जीव विशेष का पुनः-पुनः निरंतर उसी काय में जन्म लेना कायस्थिति है। इस अपेक्षा से देव और नारक पुनः उसी काय में जन्म नहीं लेते हैं। अतः उनकी कायस्थिति एकभवपर्यंत ही होती है। पंचेन्द्रिय तिर्यच को छोड़कर शेष तिर्यच जीवों की कायस्थिति भव की अपेक्षा से अनन्तभव और काल की अपेक्षा से अनन्तकाल तक मानी गई है। जहां तक मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यच का प्रश्न है, उनकी स्थिति सात-आठ भव तक होती है। काल की अपेक्षा से यह कायस्थिति तीन पल्योपम और नौ करोड़ पूर्व वर्ष की हो सकती है।

कायस्थिति की चर्चा के बाद काल-द्वार में गुणविभाग काल की चर्चा है। इसमें विभिन्न गुणस्थानों के जघन्य और उत्कृष्ट काल की सीमा बताई गई है। इसी क्रम में सम्यक्त्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, लेश्या एवं मति आदि पांच ज्ञानों की काल मर्यादा की चर्चा भी प्रस्तुत द्वार में मिलती है।

इसी क्रम में चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के काल मर्यादा की चर्चा करते हुए चक्षुदर्शन का काल दो हजार सागरोपम और अचक्षुदर्शन का काल अनादि-अनंत,

अनादि-सान्त ऐसा तीन प्रकार का बताया गया है। यद्यपि आगम में उसके प्रथम दो प्रकारों का ही निर्देश मिलता है। इसके पश्चात् इस द्वार में भव्यत्व-अभव्यत्व आदि की अपेक्षा से भी उत्कृष्ट काल की चर्चा हुई है। द्वार के अंत में विभिन्न मार्गणाओं और गुणस्थानों की अपेक्षा से उत्कृष्ट-जघन्य काल की चर्चा भी विस्तारपूर्वक की गई है। अंत में अजीव द्रव्य के काल की चर्चा करते हुए धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय को अनादि-अनन्त में बताया है। काल सामान्य दृष्टि से तो अनादि-अनन्त है, किंतु विशेष रूप से उसे भूत, वर्तमान और भविष्य- ऐसे तीन विभागों में बांटा जाता है। पुद्गल द्रव्य में परमाणु स्कंधों का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्ट काल असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी पर्यन्त बताया है।

छठा अन्तरद्वार-जीव जिस गति अथवा पर्याय को छोड़कर अन्य किसी गति या पर्याय को प्राप्त हुआ हो, वह जब तक पुनः उसी गति या पर्याय को प्राप्त न कर सके, तब तक का काल अंतरकाल कहा जाता है। प्रस्तुत द्वार के अंतर्गत सर्वप्रथम चार गतियों के जीवों में कौन, कहां, किस गति में 'जन्म ले सकता है, इसकी चर्चा की गई। उसके पश्चात् एकेन्द्रिय, त्रसकाय एवं सिद्धों के सामान्य अपेक्षा से निरंतर उत्पत्ति और अंतराल के काल की चर्चा की गई है। तत्पश्चात् सिद्धों की निरंतरता और अंतराल की चर्चा करते हुए चारों गतियों, पांचों इंद्रियों, षट् जीवनिकायों आदि की अपेक्षा से भी अंतरकाल की चर्चा की गई है।

सातवें भाव-द्वार के अंतर्गत सर्वप्रथम औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक एवं सन्निपातिक ऐसे छः भागों की चर्चा की गई है। उसके पश्चात् आठ कर्मों की अपेक्षा से विभिन्न भावों की चर्चा की गई है। इसमें यह बताया गया है कि मोहनीय-कर्म में चार भाव होते हैं, शेष तीन घाती कर्मों में औदयिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ऐसे तीन भाव होते हैं। शेष अघाती कर्मों में मात्र औदयिक भाव होते हैं। पारिणामिक भाव तो जीव का स्वभाव है। अतः वह सभी अवस्थाओं में पाया जाता है। अजीव द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल में पारिणामिक भाव है, किंतु यहां पारिणामिक भाव का तात्पर्य परिणामन ही समझना चाहिए, क्योंकि भाव तो चेतनागत अवस्था है। पुद्गल में पारिणामिक और औदयिक दोनों भाव होते हैं, क्योंकि पुद्गल कर्मवर्गणा के रूप में उदय में भी आते हैं।

आठवें अल्पबहुत्व-द्वार में सर्वप्रथम चारों गतियों एवं सिद्धों की अपेक्षा से

अल्पबहुत्व की चर्चा हुई है, उसमें बताया गया है कि सबसे अल्प मनुष्य है, मनुष्यों से असंख्यात गुणा अधिक देवता हैं, देवों से असंख्यात गुणा अधिक सिद्ध या मुक्त आत्मा है और सिद्धों से अनंत गुणा अधिक तिर्यच हैं। स्त्री-पुरुष से अल्पबहुत्व को बताते हुए कहा गया है कि मानव स्त्री सबसे कम है, उनकी अपेक्षा पुरुष अधिक है, पुरुषों से अधिक नारकीय जीव हैं, उनसे असंख्यात गुणा अधिक पंचेन्द्रिय तिरियंचिणि हैं, उनसे असंख्यात गुणा अधिक देवियां हैं। इसी क्रम में आगे विभिन्न नरकों की पारस्परिक अपेक्षा से और देव गति में विभिन्न देवों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व का विचार हुआ है। इसी क्रम में आगे विभिन्न कार्यों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। अंत में विभिन्न गुणस्थानों की अपेक्षा से भी अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। इस प्रकार इस द्वार में विभिन्न मार्गणाओं की अपेक्षा से अल्पबहुत्व का विचार हुआ है। अंत में अजीव द्रव्यों और उनके प्रदेशों के अल्पबहुत्व का विचार करते हुए प्रस्तुत कृति समाप्त होती है, अंतिम दो गाथाओं में जीवसमास का आधार दृष्टिवाद को बतलाते हुए जीवसमास के अध्ययन के फल को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो इसका अध्ययन करता है उसकी मति विपुल होती है तथा वह दृष्टिवाद के वास्तविक अर्थ का ज्ञाता हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवसमास का वर्ण्य-विषय विविध आयामों वाला है। उसमें जैन, खगोल, भूगोल, सृष्टि-विज्ञान के साथ-साथ उस युग में प्रचलित विविध प्रकार के तौल-माप, जीवों की विभिन्न प्रजातियां आदि का विवेचन उपलब्ध होता है। गुणस्थान सिद्धांत को आधार बनाकर आठ अनुयोगद्वारों के माध्यम से उसकी व्याख्या करने वाला श्वेताम्बर परम्परा में यह प्रथम ग्रंथ है। इसकी प्राचीनता और महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। इस पर सर्वप्रथम मलधार-गच्छीय श्री हेमचंद्रसूरि की वृत्ति है। यह मूलग्रंथ सर्वप्रथम ऋषभदेव केशरीमल संस्थान, रतलाम के द्वारा ई.सन् १९२८ में प्रकाशित हुआ था। इसके भी पूर्व हेमचंद्रसूरि की वृत्ति के साथ यह ग्रंथ आगमोदय समिति बम्बई द्वारा ई.सन् १९२७ में मुद्रित किया गया था। जिनरत्नकोष से हमें यह भी सूचना मिलती है कि इस पर मलधारगच्छीय हेमचंद्रसूरि की वृत्ति के अतिरिक्त शीलांकाचार्य की एक टीका भी उपलब्ध होती है, जो अभी तक अप्रकाशित है। यद्यपि इसकी प्रतियां बड़ौदा आदि विभिन्न ज्ञान भण्डारों में उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार इसकी एक अन्य टीका बृहद्वृत्ति के नाम से जानी जाती है, जो मलधारगच्छीय हेमचंद्रसूरि के शिष्य अभयदेवसूरि के द्वारा विक्रम संवत् ११६४ तदनुसार ई.सन् ११०७ में लिखी गई थी।

इस प्रकार यद्यपि मूलग्रंथ और उसकी संस्कृत टीका उपलब्ध थी, किंतु प्राकृत और संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए इसके हार्द को समझ पाना कठिन था। इसका प्रथम गुजराती अनुवाद जो मलधारगच्छीय हेमचंद्रसूरि की टीका पर आधारित है, मुनि श्री अमितयश विजय जी महाराज ने किया, जो जिनशासन आराधना ट्रस्ट, बम्बई के द्वारा ई. सन् १९८५ में प्रकाशित हुआ। फिर भी हिन्दी भाषा-भाषी जनता के लिए इस महान् ग्रंथ का उपयोग कर पाना अनुवाद के अभाव में कठिन ही था। ई.सन् १९९५ में खरतरगच्छीया महतरा अध्यात्मयोगिनी पुज्याश्री विचक्षणश्री जी म.सा. की सुशिष्या एवं साध्वीवर्या मरुधरज्योति पूज्या मणिप्रभाश्री जी की नेश्रायवर्तिनी साध्वी श्री विद्युत्प्रभाश्रीजी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ में अपनी गुरु भगिनियों के साथ अध्ययनार्थ पधारीं, उनसे मैंने इस ग्रंथ के अनुवाद के लिए निवेदन किया, जिसे उन्होंने न केवल स्वीकार किया, अपितु कठिन परिश्रम करके अल्पावधि में ही इसका अनुवाद सम्पन्न किया। उसके सम्पादन और संशोधन में मेरी व्यस्तता एवं स्वास्थ्य सम्बंधी कारणों से अपेक्षा से कुछ अधिक ही समय लगा, किंतु आज यह ग्रंथ मुद्रित होकर लोकार्पित होने जा रहा है, यह अतिप्रसन्नता और संतोष का विषय है। सम्पादन एवं भूमिका लेखन में हुए विलम्ब के लिए मैं साध्वीश्री जी एवं पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

वसुदेवहिण्डी की भूमिका (ई.सन् की ५वीं ६टीं शती)

आध्यात्मिक एवं धार्मिक जीवन मूल्यों को आत्मसात करने हेतु प्रेरणा देने के लिए कथाओं और रूपकों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वस्तुतः, कथा परम्परा का प्रचलन मानव एवं संस्कृति के उद्भव और विकास के प्रारम्भिक युग से ही रहा है। कथाएं एक ऐसा माध्यम हैं, जो रोचक ढंग से व्यक्ति के भाव जगत् में परिवर्तन लाती हैं। यही कारण है कि निवृत्ति प्रधान श्रमण संस्था में भी कथाओं और रूपकों का महत्त्व प्राचीनकाल से ही रहा है। ज्ञाताधर्मकथा में भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट रूपक कथाओं का एक महत्त्वपूर्ण संकलन उपलब्ध होता है। कथाओं की अपनी यह विशेषता होती है कि वे

घटनाओं का एक ऐसा जीवन्त दृश्य उपस्थित करती हैं जिसका जनसामान्य भी आस्वादन कर लेता है। यही कारण है कि निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा में भी प्राचीनकाल से कथा साहित्य का सृजन होता रहा है। जैन परम्परा ने अपने आगम साहित्य को जिन चार भागों में वर्गीकृत किया उसमें धर्मकथानुयोग का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके मूल्य और महत्व को देखते हुए ही इसे प्रथमानुयोग के नाम से अभिहित किया जाता है। आगम साहित्य में संकलित कथाओं के अतिरिक्त जैन आचार्यों ने स्वतंत्र रूप से भी कथा साहित्य की सर्जना की है। इन कथाओं में विमलसूरिकृत 'पउमचरियं' तथा संघदासगणि की वसुदेवहिण्डी प्राचीनतम हैं, जहां विमलसूरि का पउमचरियं जैन रामकथा को प्रस्तुत करता है, वहां वसुदेवहिण्डी में कृष्ण के पिता वसुदेव के यात्रा वृतान्त का चित्रण किया गया है।

यह स्पष्ट है कि वसुदेवहिण्डी मुख्यतः एक श्रृंगारस प्रधान कथा ग्रंथ है। अतः स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठना चाहिए कि निवृत्ति प्रधान जैन आचार्यों ने श्रृंगारप्रधान कथाएं क्यों लिखी? वस्तुतः, जैन आचार्यों का मुख्य उद्देश्य तो जनसाधारण में त्याग और वैराग्य की भावनाओं को जगाना ही था, किंतु इस प्रकार के नीरस प्रवचनों में जनसाधारण की अभिरुचि नहीं बन पाती थी। अतः उन्होंने जनसाधारण को धर्म मार्ग में आकर्षित करने के लिए अपनी धर्मकथाओं में श्रृंगारस से परिपूर्ण प्रेमाख्यानों को समाहित करके साहित्य सर्जना प्रारम्भ की, जिस प्रकार कोई वैद्य अपनी कड़वी दवाई को गुड़ में रखकर रोगी को इस प्रकार देता है कि वह प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार धर्माचार्यों को भी काम कथा में रत जनसामान्य के मनोरंजन के लिए श्रृंगार कथा के माध्यम से धर्म कथा सुनानी चाहिए। वसुदेवहिण्डी के सहयोगी लेखक धर्मसेनगणि ने भी स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार्यों का मुख्य उद्देश्य तो जनसामान्य के त्याग और वैराग्य की भावनाओं को उत्प्रेरित करना ही रहा, किंतु उन्हें श्रृंगार प्रधान कथाओं के माध्यम से वैराग्य का उपदेश देना अधिक उपयोगी लगा। वसुदेवहिण्डी की रचना भी इसी दृष्टिकोण को रखकर की गई थी।

वसुदेवहिण्डी एक बृहत्काय ग्रंथ है और अभी तक सम्पूर्ण ग्रंथ न तो उपलब्ध हो सका है और न ही प्रकाशित हुआ है। इसके प्रथम खण्ड में २९ लम्बक हैं जो ११,००० श्लोकों में निबद्ध हैं। मध्यम खण्ड में ७१ लम्बक हैं, जो १७,००० श्लोकों में पूर्ण हुए हैं। डॉ. जगदीशचंद्र जैन की मान्यता है कि यह पैशाची प्राकृत में लिखित गुणाढ्य की बृहत्कथा पर आधारित है। वसुदेवहिण्डी के प्रथम खण्ड के लेखक संघदासगणि

हैं। इसका दूसरा खण्ड जो मध्यमखण्ड के नाम से जाना जाता है, वह धर्मसेनगणि के द्वारा रचित है। आवश्यकचूर्णि में वसुदेवहिण्डी का उल्लेख मिलता है। आवश्यकचूर्णि का रचनाकाल ई.सन् ६०० के लगभग माना जाता है, अतः स्पष्ट है कि इसके पूर्व इस ग्रंथ की रचना हो चुकी थी। कुछ विद्वानों ने वसुदेवहिण्डी के प्रथम खण्ड के रचनाकार संघदासगणि का समय ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी निश्चित किया है। ग्रंथ की भाषा और विषय-वस्तु की दृष्टि से भी यह स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत कृति चौथी-पांचवीं शताब्दी की है। इस प्रकार विमलसूरि के 'पउमचरियं' के पश्चात् लिखित कथाओं में वसुदेवहिण्डी का स्थान सर्वोपरि है। प्रस्तुत कथा में प्रसंगवश रामायण और महाभारत दोनों के कथासूत्र निबद्ध कर लिए गए हैं। मात्र यही नहीं प्राचीन भारतीय कथाओं के अनेक प्राचीन कथासूत्र इस ग्रंथ में उपलब्ध हो जाते हैं। इसके साथ ही प्राचीन भारतीय समाज और संस्कृति के तथ्यों का भी इस ग्रंथ में सुंदर और सजीव चित्रण पाया जाता है।

यद्यपि डॉ. जगदीशचंद्र जैन ने इस ग्रंथ की भूमिका में ग्रंथ और उसकी विषयवस्तु का विस्तृत परिचय दिया है, किंतु अनेक कारणों से प्रस्तुत ग्रंथ का सांस्कृतिक अध्ययन नहीं पाया हो पाया था। उसका प्रथम कारण तो यह था कि प्रस्तुत ग्रंथ आर्ष प्राकृत में निबद्ध था। यद्यपि सन् १९४२ में भाई भोगीलाल जयचंद्र ने इसका गुजराती अनुवाद किया था, किंतु अनुवाद उपलब्ध न होने से कोई भी विद्वान् सांस्कृतिक और सामाजिक अध्ययन की दिशा में आगे नहीं बढ़ पा रहा था।

मैंने डॉ. (श्रीमती) कमल जैन को इसके लिए प्रेरित किया, क्योंकि इसके पूर्व वे 'जैन आगमों में आर्थिक जीवन' और 'हरिभद्र के साहित्य में समाज और संस्कृति' ऐसे दो ग्रंथ पूर्ण कर चुकी थीं। यद्यपि अपने इन पूर्व अध्ययनों के निमित्त उन्होंने प्राकृत भाषा का अध्ययन भी किया था, किंतु वे साहस नहीं कर पा रही थीं। संयोग से उन दिनों डॉ. श्री रंजनसूरिदेव का वसुदेवहिण्डी के प्रथम खण्ड का अनुवाद हमें उपलब्ध हुआ और उन्होंने इस दिशा में कार्य करने का निश्चय किया।

वस्तुतः, किसी ग्रंथ का सांस्कृतिक और सामाजिक अध्ययन करना इसलिए एक कठिन कार्य होता है, क्योंकि उसमें सर्वप्रथम तो सम्पूर्ण ग्रंथ का आलोड़न करके विभिन्न विषयों को निकालना होता है और फिर उन्हें सुसम्बद्ध रूप से प्रस्तुत करना होता है। प्रस्तुत कृति में लेखिका ने प्राकृत कथा साहित्य में वसुदेवहिण्डी के स्थान को निर्धारित करते हुए उसके लेखक संघदासगणि और धर्मसेनगणि का परिचय दिया है। यद्यपि लेखकों के संदर्भ में विशेष सूचनाएं अनुपलब्ध न होने से इनके जन्म स्थान, माता, पिता,

कुल, जाति आदि का विशिष्ट परिचय देना सम्भव नहीं हुआ है। अभी भी यह एक विवादास्पद प्रश्न बना हुआ है कि प्रथम खण्ड के रचनाकार संघदासगणि क्या व्यवहारभाष्य के रचनाकार संघदासगणि ही हैं या अन्य कोई दूसरे संघदासगणि हैं, क्योंकि इसके आधार पर ही ग्रंथ का काल निर्णय सुनिश्चित होना सम्भव है। इतना तो निश्चित है कि ग्रंथ ईसा की छठी शताब्दी से अस्तित्व में आ गया था।

अपनी इस कृति के दूसरे अध्याय में लेखिका ने इस ग्रंथ का साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन किया है और बताने का प्रयास किया है कि इस ग्रंथ पर अन्य ग्रंथों का और अन्य ग्रंथों का इस ग्रंथ पर किस प्रकार प्रभाव पड़ा है।

सर्वप्रथम तो हम यह देखते हैं कि वसुदेवहिण्डी में यद्यपि राम, कृष्ण, प्रद्युम्न तथा महाभारत के कथा प्रसंग समाहित हैं, किंतु सीता को रावण की पुत्री के रूप में प्रस्तुत करने की कथा वसुदेवहिण्डी के लेखक की अपनी विशिष्ट अवधारणा है। यह कहना तो कठिन है कि उन्होंने इस अवधारणा को कहाँ से गृहीत किया था, किंतु यह अवधारणा विमलसूरि के पउमचरियं से भिन्न है और आगे दिगम्बर परम्परा के महापुराण में इसका निर्वहन किया गया है। जबकि विमलसूरि, दिगम्बर आचार्य रविसेन आदि यापनीय स्वयंभू ने दूसरी ही परम्परा को ग्रहण किया है। जैन परम्परा में राम कथा के जो दो रूप प्रचलित हैं, उनमें एक का आधार विमलसूरि का पउमचरियं तथा दूसरे का आधार वसुदेवहिण्डी की रामकथा ही है। इस प्रकार हम देखते हैं वसुदेवहिण्डी में पूर्व परम्परा से अनेक कथानकों को लेकर उन्हें जैन परम्परा का पुट देकर आंशिक रूप से नवीन रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत कृति में लेखिका ने द्वितीय अध्याय में ऐसे अनेक कथानकों का तुलनात्मक अध्ययन करके यह बताने का प्रयास किया है कि हिन्दू धर्म में प्रचलित अनेक कथानकों को ग्रहण करके उन्हें वसुदेवहिण्डी के कथानकों में मोड़ने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के रूप में जैसे रामायण में सीता मृग शावक के लिए हठ करती है और उसी के कारण हरण हो जाती है, उसी प्रकार वसुदेवहिण्डी में भी नीलयशा मयूर शावक को देखकर उसे लेने का हठ करती है। वसुदेव मयूर शावक को लेने जाता है और इसी बीच नीलयशा का हरण हो जाता है। इसी प्रकार ज्योतिर्वन में चित्रित मृग को देखकर रानी सुतारा का उसके प्रति आकृष्ट होना, उसे लेने के लिए आग्रह करना, राजा द्वारा उसे लेने के लिए मृग का पीछा करना, मायावी मृग का उड़ जाना और रानी का अपहरण हो जाना, सीता हरण की घटना से काफी साम्य रखते हैं। अनेक पौराणिक कथाओं को भी वसुदेवहिण्डी में अपने ढंग से जैन परम्परा का पुट देकर प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के

रूप में गंगा अवतरण की कथा को ले सकते हैं। राजा सगर के ६०,००० पुत्रों के द्वारा अष्टापद पर बने जैन मंदिर की रक्षा के लिए उसके चारों ओर खाई खोदना, पानी का नागलोक में चला जाना, क्रोधित नाग का सगर पुत्रों को भस्म कर देना, भगीरथ की पूजा-अर्चना करके गंगा का मार्ग समुद्रगामी बना देना आदि कथा प्रसंग किंचित रूप से परिवर्तन करके समाहित कर लिए गए हैं। इसी प्रकार अनेक ऐसे कथानक हैं जो अभिज्ञानशाकुन्तलम्, महाभारत और अन्य पौराणिक आख्यानों से समानता रखते हैं।

वस्तुतः, वसुदेवहिण्डी प्राकृत जैन कथा साहित्य का उपजीव्य है। वसुदेवहिण्डी में आए चारुदत्त और गणिका का कथानक मृच्छकटिक के चारुदत्त और वसंतसेना के कथानकों से साम्य रखता है। यह कथानक हरिभद्र के समराइच्चकहा, जिनसेन के हरिवंशपुराण, उद्योतनसूरि की कुवल्यमाला में भी आया है। वक्कलचीरि और कोक्कास बढई की कथा आवश्यकचूर्णि में उपलब्ध होती है। हरिसेन के बृहत्कथा की अनेक कथाएं और रूपक वसुदेवहिण्डी से लिए गए हैं। इससे प्रस्तुत ग्रंथ का जैन परम्परा में क्या स्थान है, यह स्पष्ट हो जाता है। इसमें वैराग्य का उपदेश देने के लिए मधुबिंदु का दृष्टांत, गर्भवास के दुःख के प्रसंग में ललितांग का दृष्टांत, सांसारिक भोगों की दुःखमयता के प्रसंग में कौवे और हाथी का दृष्टांत, मिथ्यावादियों के प्रसंग में भैंसे का दृष्टांत आदि ऐसे दृष्टांत हैं, जो संघदासगणि की वैराग्यवादी दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं। जनसाधारण को बोध देने के लिए आचार्यों ने अनेक लौकिक आख्यानों को अपनी रचना में स्थान दिया है।

वस्तुतः, प्रस्तुत कृति में पौराणिक कथाओं, लौकिक कथाओं को अवान्तर कथाओं के रूप में समाहित करके एक व्यापक आधार प्रदान किया गया है।

कथा में श्रृंगार का पुट होते हुए भी उसका अवसान वैराग्य में है। आचार्य ने गणिका जैसे चरित्रों को भी कुलीन नारियों की तरह सम्मानजनक बना दिया है। गणिका कुबेरसेना साधु-साध्वियों की सेवा में तत्पर रहती है तो गणिका कामपताका श्राविका के व्रत ग्रहण कर जैन धर्म की उपासना करती है। इस प्रकार वसुदेवहिण्डी के अनेक कथानक समाज में उच्च आदर्शों को प्रस्तुत करते हैं।

प्रस्तुत कृति के द्वितीय अध्याय में ग्रंथ का साहित्यिक मूल्यांकन भी किया गया है और उसमें आए हुए शुभाषितों को एक ही स्थान पर संगृहीत कर दिया गया है। प्रस्तुत कृति के तृतीय अध्याय में वसुदेवहिण्डी में वर्णित सामाजिक एवं धार्मिक स्थितियों का चित्रण किया गया है। इसमें सर्वप्रथम चारों वर्णों की जो व्यवस्था समाज में प्रचलित थी,

उसका चित्रण किया गया है, किंतु इसके साथ ही साथ जहां आचार्य ने एक ओर शूद्रों पर होने वाले अत्याचारों की चर्चा की, वहीं उनके द्वारा वेदाध्ययन करने तथा जिन धर्म के पालन का चित्रण भी प्रस्तुत किया और इस प्रकार शूद्रों को अपने गुण और साधना के आधार पर समकक्षता प्रदान की। इसी प्रसंग में विद्याधरों और वन्य जातियों का भी चित्रण किया गया है। वसुदेवहिण्डी से यह प्रतिफलित होता है कि उस युग तक व्यवस्था, कठोर नहीं थी। अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित थे। वसुदेवहिण्डी की पत्नियां, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी वर्गों से थीं। मध्यम खण्ड में तो मातंग (चांडाल) चिलात कन्याओं से भी विवाह करने के उल्लेख हैं। प्रस्तुत कृति में वर्णव्यवस्था के साथ-साथ आश्रम व्यवस्था का भी चित्रण मिलता है और यह भी ज्ञात होता है कि उस युग में ऋषिगण भी विवाह करते थे, किंतु इनके अतिरिक्त श्रमणों की भी एक परम्परा थी, जो पंचमहाव्रत का पालन करती थी।

लेखिका ने इसी अध्याय में समाज में प्रचलित विभिन्न संस्कारों की भी चर्चा की है। इससे यह ज्ञात होता है कि उस युग में ब्राह्मण परम्परा में मान्य विभिन्न संस्कार जैन परम्परा में भी गृहीत हो गए थे। इसी अध्याय में नारी की सामाजिक स्थिति पर विस्तार से चर्चा की गई है। यद्यपि इस प्रसंग में नारी के उदात्त और अनुदात्त दोनों ही पक्षों का चित्रण वसुदेवहिण्डी में हुआ है।

तृतीय अध्याय का, द्वितीय विभाग उस काल में प्रचलित धार्मिक मान्यताओं का चित्रण करता है। वसुदेवहिण्डी के धार्मिक परम्पराओं के चित्रण से यह स्पष्ट लगता है कि उस युग में जैन परम्परा में तंत्र का प्रभाव आना प्रारम्भ हो गया था। वसुदेवहिण्डी में तंत्र और मंत्र विद्याओं का प्रवर्तन ऋषभदेव से माना गया है। इससे यह फलित होता है कि जैन परम्परा में भी विद्याओं की प्राप्ति के लिए अनुष्ठान किए जाने लगे थे। वसुदेवहिण्डी में विभिन्न विद्याओं और उनके सिद्ध करने के उपायों की चर्चा भी मिलती है। इससे यह प्रतिफलित होता है कि जैन धर्म जैसे निवृत्तिपरक धर्म भी तांत्रिक साधना के आगोश में समा गए थे।

वसुदेवहिण्डी के चतुर्थ अध्याय में भौगोलिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्थितियों के उल्लेख हैं। इसमें विभिन्न जनपदों के उल्लेख के साथ-साथ वहां के पर्वतों और नदियों के भी उल्लेख हैं। इन उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि उस समय भारतीय व्यापारी चीन, स्वर्णदीप (सुमात्रा), यवद्वीप (जावा), सिंहल द्वीप (लंका), बरबर, बेबीलोनियां और

यवन देश तक की यात्राएं करते थे। पर्वतों और नदियों के जो उल्लेख वसुदेवहिण्डी में मिलते हैं, उनसे एक बृहत्तर भारत का चित्र उभरकर सामने आता है। राजनैतिक चर्चाओं से यह ज्ञात होता है कि उस युग में राजतंत्र का बोलबाला था, फिर भी समाज में निकाय और पंचायत व्यवस्थाएं प्रचलित थीं। इस प्रकार उच्च स्तर पर राजतंत्र और निम्न स्तर पर प्रजातंत्र दोनों का समन्वय देखा जाता है।

जहां तक आर्थिक स्थिति का प्रश्न है, उस समय भारत सम्पन्न और समृद्ध देश था। कृषि, उद्योग और विदेशी व्यवसाय सभी अपनी उन्नति के शिखर पर थे। वसुदेवहिण्डी में इस आर्थिक सुव्यवस्था और सम्पन्नता का चित्रण हमें विस्तार से उपलब्ध हो जाता है।

वसुदेवहिण्डी में राज्यों के बीच आंतरिक विरोध और युद्धों की चर्चा मिलती है। अपनी सुरक्षा के लिए युद्ध करना अहिंसावादी जैन परम्परा को भी मान्य था, फिर भी आचार्य संघदासगणि का स्पष्ट निर्देश था कि युद्ध क्षेत्र में उतरने के पूर्व राजा को अपनी शक्ति का अनुमान कर लेना चाहिए। मध्यम खण्ड में धर्मसेनगणि भी कहते हैं कि युद्ध के परिणामों का विचार करके ही युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिए। युद्ध के प्रमुख कारणों की चर्चा करते हुए वसुदेवहिण्डी में स्त्री और भूमि को युद्ध का प्रमुख कारण माना गया है।

दण्ड व्यवस्था के संदर्भ में संघदासगणि एक सार्षक्षिक न्याय व्यवस्था का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार उत्तम पुरुष संकेत मात्र से अपराध कर्म से विमुक्त हो जाते हैं, जबकि मध्यम पुरुष मना करने पर रुक जाते हैं, लेकिन निकृष्ट पुरुष तो बिना कठोर दण्ड के अपना अपराध कर्म नहीं छोड़ते हैं।

वसुदेवहिण्डी में उस युग में प्रचलित खान-पान, वस्त्र, आभूषण, केश-विन्यास आदि का भी विवरण उपलब्ध होता है, जिसका विद्वान् लेखिका ने विस्तार से वर्णन किया है। इसी प्रकार उस युग में मनोरंजन के विभिन्न साधनों और कलाओं, वाद्य यंत्रों आदि के संकेत भी वसुदेवहिण्डी में उपलब्ध होते हैं। आयुर्वेद सम्बंधी भी अनेक सूचनाएं इस ग्रंथ में उपलब्ध होती हैं। उसमें सबसे मनोरंजक सूचना यह है कि शल्यक्रिया के द्वारा यौन परिवर्तन किए जाते थे। वसुदेवहिण्डी प्रथम और मध्यम दोनों ही खण्डों में इसका उल्लेख हुआ है। मंत्रों और गुटिकाओं के भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जिसके माध्यम से रूप और वाणी में परिवर्तन हो जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि वसुदेवहिण्डी न केवल कथाओं की अपेक्षा से, अपितु सांस्कृतिक और सामाजिक सूचनाओं की दृष्टि से भी एक आकर ग्रंथ है।

डॉ. (श्रीमती) कमल जैन ने इस आकर ग्रंथ का आलोड़न करके उसमें सामाजिक और सांस्कृतिक सूचनाएं संगृहीत की हैं और उन्हें एक व्यवस्थित रूप दिया है। जीवन के उत्तरार्ध में अपने पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह करते हुए उन्होंने अपने को विद्या की उपासना में संलग्न करके रखा है, यह निश्चित ही दूसरों के लिए प्रेरणादायक और अनुकरणीय है। यदि विद्वत्त्वर्ग ऐसे अछूते ग्रंथों को अपने अध्ययन का विषय बनाकर उनके निचोड़ को जनसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत करेगा तो निश्चय ही प्राकृत विद्या के क्षेत्र में उनके अवदान को सदैव स्मरण किया जा सकेगा। अंत में मैं डॉ. (श्रीमती) कमल जैन के स्वस्थ और मंगलमय जीवन की कामना करते हुए यही अपेक्षा करता हूँ कि वे जैन विद्या के क्षेत्र में निरंतर जुड़ी रहें और अपनी ग्रंथ रचना के माध्यम से भारती का भण्डार समृद्ध करती रहें।

पउमचरियं की भूमिका

(ई. सन् की २-३ शती)

रामकथा की व्यापकता

राम और कृष्ण भारतीय संस्कृति के प्राण-पुरुष रहे हैं। उनके जीवन आदर्शों एवं उपदेशों ने भारतीय संस्कृति को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। भारत एवं भारत के पूर्वी निकटवर्ती देशों में आज भी राम-कथा के मंचन की परम्परा जीवित है। हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म परम्परा में राम-कथा सम्बन्धी प्रचुर उल्लेख पाए जाते हैं। राम-कथा सम्बन्धी ग्रंथों में वाल्मिकी रामायण प्राचीनतम ग्रंथ है। यह ग्रंथ हिन्दू परम्परा में प्रचलित राम-कथा का आधार ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त संस्कृत में रचित पद्मपुराण और हिन्दी में रचित रामचरितमानस भी राम-कथा सम्बन्धी प्रधान ग्रंथ है, जिन्होंने हिन्दू जन-जीवन को प्रभावित किया है। जैन परम्परा में रामकथा सम्बन्धी ग्रंथों में प्राकृत भाषा में रचित आ. विमलसूरि का 'पउमचरियं' एक प्राचीनतम प्रमुख ग्रंथ है। लेखकीय प्रशस्ति के अनुसार यह ई. सन् की प्रथम शती के रचना है। वाल्मिकी की रामायण के पश्चात् रामकथा सम्बन्धी ग्रंथों में यही प्राचीनतम ग्रंथ है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी में रचित रामकथा सम्बन्धी

ग्रंथ इसके परवर्ती ही हैं। यहां यह ज्ञातव्य है कि प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़ एवं हिन्दी में जैनों का रामकथा सम्बंधी साहित्य विपुल मात्रा में है, जिसकी चर्चा हम आगे विस्तार से करेंगे। बौद्ध परम्परा में रामकथा मुख्यतः जातक कथाओं में वर्णित है। जातक कथाएं मुख्यतः बोधिसत्व के रूप में बुद्ध के पूर्वभवो की चर्चा करती है। इन्हीं में दशरथ जातक में रामकथा का उल्लेख है। बौद्ध परम्परा में रामकथा सम्बंधी कौन-कौन से प्रमुख ग्रंथ लिखे गए, इसकी जानकारी का अभाव ही है।

रामकथा सम्बंधी जैन साहित्य

जैन साहित्यकारों ने विपुल मात्रा में रामकथा सम्बंधी ग्रंथों की रचना की है, इनमें दिगम्बर लेखकों की अपेक्षा श्वेताम्बर लेखक और उनके ग्रंथ अधिक रहे हैं। जैनों में रामकथा सम्बंधी प्रमुख ग्रंथ कौन से रहे हैं, इसकी सूची निम्नानुसार है-

क्र.ग्रंथ	लेखक	भाषा	काल
१ पउमचरियं	आ.विमलसूरि (श्वे.)	प्राकृत	वी.नि. ५३०
२ वसुदेवहिण्डी	श्री संघदासगणि. (श्वे.)	प्राकृत	ईस्वी सन् ६०९
३ पद्मपुराण	श्री रविषेण (दि.)	संस्कृत	ईस्वी सन् ६७८
४ पउमचरिउ	श्री स्वयम्भू (दि.)	अपभ्रंश	प्रायः ई.सन् ८वीं शती (मध्य)
५ चउपन्न महापुरसचरियं	आ.शीलांक (श्वे.)	प्राकृत	ई. सन् ८६८
६ उत्तरपुराण	श्री गुणभद्र (दि.)	संस्कृत	ई.सन् प्रायः ९वीं शती
७ बृहत्कथाकोष	श्री हरिषेण (दि.)	संस्कृत	ई.सन् ६३१- ६३२
८ महापुराण	श्री पुष्पदंत (दि.)	अपभ्रंश	ई.सन् ९६५
९ कहावली	आ.भद्रेश्वर (श्वे.)	प्राकृत	प्रायः ईस्वी सन् ११वीं शती
१० त्रिषष्टीशालाकापुरुषचरित	आ.हेमचंद्र (श्वे.)	संस्कृत	प्रायः ईस्वी सन् १२वीं शती

११ योगशास्त्र स्वोपज्ञ वृत्ति आ.हेमचंद्र (श्वे.)	संस्कृत	प्रायः ईस्वी सन् १२वीं शती
१२ शत्रुंजयमहात्म्य	आ.धनेश्वरसूरि (श्वे.)	संस्कृतप्रायः ईस्वी सन् १४वीं शती
१३ पुण्यचंद्रोदय पुराण	श्रीकृष्णदास (दि.)	संस्कृत ई.सन् १५२८
१४ रामचरित	देवविजयगणि (श्वे.)	संस्कृत ई.सन् १५९६
१५ लघुत्रिषष्टि शलाका	मेघविजय (श्वे)	संस्कृत ई.सन् १७वीं पुरुष-चरित शती

इनमें एकाध अपवाद को छोड़कर शेष सभी ग्रंथ प्रायः प्रकाशित है। इनके अतिरिक्त भी रामकथा सम्बंधी अनेक हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख जिनरत्नकोश में मिलता है, जिनकी संख्या ३० से अधिक है। इनमें हनुमानचरित, सीताचरित आदि भी सम्मिलित हैं। विस्तारभय ये यहां इन सबकी चर्चा अपेक्षित नहीं है। आधुनिक युग में भी हिन्दी में अनेक जैनाचार्यों ने रामकथा सम्बंधी ग्रंथों की रचना की है। इनमें स्थानकवासी जैन संत शुक्लचंद्रजी म. की 'शुक्लजैनरामायण' आ. भद्रगुप्तसूरीश्वरजी का 'जैन रामायण' तथा आचार्य तुलसी की 'अग्नि-परीक्षा' अति प्रसिद्ध है।

जैनों में रामकथा की दो प्रमुख धाराएं

वैसे तो आवान्तर कथानकों की अपेक्षा जैन परम्परा में भी रामकथा के विविध रूप मिलते हैं, फिर भी जैनों में रामकथा की दो धाराएं लगभग प्रायः ईसा की ९वीं शताब्दी से देखी जाती है- १. ग्रंथकार विमलसूरि की रामकथा धारा और २. गुणभद्र की रामकथा धारा। सम्प्रदायों की अपेक्षा-अचेल यापनीय एवं श्वेताम्बर ग्रंथकार विमलसूरि की रामकथा की धारा का अनुसरण करते रहे, जबकि दिगम्बर धारा में भी मात्र कुछ आचार्यों ने ही गुणभद्र की धारा का अनुसरण किया। श्वेताम्बर परम्परा में संघदासगणि एवं यापनीयों में रविषेण, स्वयम्भू एवं हरिषेण भी मुख्यतः विमलसूरि के 'पउमचरियं' का ही अनुसरण करते हैं, फिर भी संघदासगणि के कथानकों में कहीं-कहीं विमलसूरि से मतभेद भी देखा जाता है। रामकथा सम्बंधी प्राकृत ग्रंथों में आ.शीलांक चउपन्नमहापुरिसचरियं में आ. हरिभद्र धूर्ताव्याख्यान में और आ. भद्रेश्वर कहावली में,

संस्कृत भाषा में रविषेण पद्मपुराण में दिगम्बर अमितगति धर्मपरीक्षा में आ.हेमचंद्र योगशास्त्र की स्वोपज्ञवृत्ति में तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में, आ. घनेश्वर शत्रुंजयमहात्म्य में, देवविजयगणि 'रामचरित' (अप्रकाशित) और मेघविजयगणि लघुत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (अप्रकाशित) में प्रायः विमलसूरि का अनुसरण करते हैं। अपभ्रंश में स्वयम्भू 'पउमचरिउ' में भी विमलसूरि का ही अनुसरण करते हैं। यहां यह ज्ञातव्य है कि रविषेण का 'पद्मपुराण' (संस्कृत) और स्वयम्भू का 'पउमचरिउ' (अपभ्रंश) चाहे भाषा की अपेक्षा भिन्नता रखते हो, किंतु ये दोनों ही विमलसूरि के पउमचरियं का संस्कृत या अपभ्रंश रूपांतरण ही लगते हैं।

श्री गुणभद्र के उत्तरपुराण की रामकथा का अनुसरण प्रायः अल्प ही हुआ है। मात्र कृष्ण के संस्कृत के पुण्यचंद्रोदयपुराण में तथा अपभ्रंश के पुष्पदंत के महापुराण में इसका अनुसरण देखा जाता है।

पउमचरियं की भाषा एवं छंद योजना

सामान्यतया 'पउमचरियं' प्राकृत भाषा में रचित काव्य ग्रंथ है, फिर भी इसकी प्राकृत मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची और महाराष्ट्री प्राकृतों में कौन सी प्राकृत है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। यह तो स्पष्ट है कि इसका वर्तमान संस्करण मागधी, अर्द्धमागधी और शौरसेनी प्राकृतों की अपेक्षा महाराष्ट्रीयन प्राकृत से अधिक नैकट्य रखता है, फिर भी इसे परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत से अलग रखना होगा। इस सम्बंध में प्रो.वी.एम.कुलकर्णी ने पउमचरियं की अपनी अंग्रेजी प्रस्तावना में अतिविस्तार से एवं प्रमाणों सहित चर्चा की है। उसका सार मात्र इतना ही है कि पउमचरियं की भाषा परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत न होकर प्राचीन महाराष्ट्री प्राकृत है। वह सामान्य महाराष्ट्री प्राकृत का अनुसरण न करके जैन महाराष्ट्री प्राकृत का अनुसरण करती है, अतः उसका नैकट्य आगमिक अर्द्धमागधि से भी देखा जाता है। वे लिखते हैं कि "Paumachariya, which represents an archaic form of jain maharastri" पउमचरियं की भाषा की प्राचीनता इससे भी स्पष्ट हो जाती है कि उसमें प्रायः गाथा (आर्या) छंद की प्रमुखता है, जो एक प्राचीन और सरलतम छंद योजना है। गाथा या आर्या छंद की प्रमुखता होते हुए भी पउमचरियं में स्कंधक, इंद्रवज्रा, उपेन्दवज्रा, उपजाति आदि अनेक छंदों के प्रयोग भी मिलते हैं, फिर भी ये गाथा/आर्या छंद की अपेक्षा अति अल्प मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। मेरी दृष्टि में इनकी भाषा और छंद योजना का नैकट्य आगमिक व्याख्या

साहित्य में निर्युक्ति साहित्य से अधिक है। इसकी भाषा और छंद योजना से यह सिद्ध होता है कि इसका रचनाकाल दूसरी-तीसरी शती से परवर्ती नहीं है।

पउमचरियं का रचनाकाल

पउमचरियं में विमलसूरि ने इसके रचनाकाल का भी स्पष्ट निर्देश किया है-

पंचेव य वास सया दुसमाए तीस वरिस संजुत्ता ।

वीरे सिद्धिमुवगाए तओ निबद्धं इमं चरियं ॥

अर्थात् दुसमा नामक आरे के पांच सौ तीस वर्ष और वीर का निर्वाण होने पर यह चरित्र लिखा गया। यदि हम लेखक के इस कथन को प्रामाणिक मानें तो इस ग्रंथ की रचना विक्रम संवत् ६० के लगभग माननी होगी। महावीर का निर्वाण दुसम नामक आरे के प्रारम्भ होने लगभग ३ वर्ष और ९ माह पूर्व हो चुका था, अतः इसमें चार वर्ष जोड़ना होंगे। मतान्तर से भ. महावीर का निर्वाण विक्रम संवत् के ४१० वर्ष पूर्व भी माना जाता है, इस सम्बन्ध में मैंने अपने लेख "Date of Mahavira's Nirvana" में विस्तार से चर्चा की है। अतः उस दृष्टि से पउमचरियं की रचना विक्रम संवत् १२४ अर्थात् विक्रम संवत् की दूसरी शताब्दी के पूर्वार्ध में हुई होगी। मेरी दृष्टि में पउमचरियं का यही रचना काल युक्ति-संगत सिद्ध होता है। क्योंकि ऐसा मानने पर लेखक के स्वयं के कथन से संगति होने के साथ-साथ उसे परवर्ती काल का मानने के सम्बन्ध में जो तर्क दिए गए हैं, वे भी निरस्त हो जाते हैं। हरमन-जेकोबी, स्वयं इसकी पूर्व तिथि २री या ३री शती मानते हैं, उनके मत से यह मत अधिक दूर भी नहीं है। दूसरे विक्रम की द्वितीय शताब्दी पूर्व ही शकों का आगमन हो चुका था, अतः इसमें प्रयुक्त लग्यों के ग्रीक नाम तथा 'दीनार', यवन, शक आदि शब्दों की उपलब्धि में भी कोई बाधा नहीं रहती है। यवन शब्द ग्रीकों अर्थात् सिकन्दर आदि का सूचक है, जो ईसा पूर्व भारत में आ चुके थे। शकों का आगमन भी विक्रम संवत् के पूर्व हो चुका था, कालकाचार्य द्वारा शकों के भारत लाने का उल्लेख विक्रम पूर्व का है। दीनार शब्द भी शकों के आगमन के साथ ही आ गया होगा। साथ ही नाईल कुल या शाखा भी इस काल में अस्तित्व में आ चुकी थी। इसे मैंने पउमचरियं की परम्परा में सिद्ध किया है। अतः पउमचरियं को विक्रम की द्वितीय शती के पूर्वार्ध में रचित मानने में कोई बाधा नहीं रहती है।

विमलसूरि और उनके पउमचरियं का सम्प्रदाय

यहां क्या विमलसूरि का पउमचरियं यापनीय है?

इस प्रश्न का उत्तर भी अपेक्षित है। विमलसूरि और उनके ग्रंथ पउमचरियं के सम्प्रदाय सम्बंधी प्रश्न को लेकर विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। जहां श्वेताम्बर^१ और विदेशी विद्वान^२ पउमचरियं में उपलब्ध अंतः साक्ष्यों के आधार पर उसे श्वेताम्बर परम्परा का बताते हैं, वहीं पउमचरियं के श्वेताम्बर परम्परा के विरोध में जानेवाले कुछ तथ्यों को उभार कर कुछ दिगम्बर विद्वान् उसे दिगम्बर या यापनीय सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।^३ वास्तविकता यह है कि विमलसूरि के पउमचरियं में सम्प्रदायगत मान्यताओं की दृष्टि से यद्यपि कुछ तथ्य दिगम्बर परम्परा के पक्ष में जाते हैं, किंतु अधिकांश तथ्य श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में ही जाते हैं, जहां हमें सर्वप्रथम इन तथ्यों की समीक्षा कर लेनी होगी। प्रो. वी.एम.कुलकर्णी ने जिन तथ्यों का संकेत प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी से प्रकाशित 'पउमचरियं' की भूमिका में किया है, उन्हीं के आधार पर यहां हम यह चर्चा प्रस्तुत करने जा रहे हैं।^४

पउमचरियं की दिगम्बर परम्परा के निकटता सम्बंधी कुछ तर्क और उनके उत्तर

(१) कुछ दिगम्बर विद्वानों का कथन है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सामान्यतया किसी ग्रंथ का प्रारम्भ- 'जम्बू स्वामी के पूछने पर सुधर्मा स्वामी ने कहा', - इस प्रकार से होता है, आगमों के साथ-साथ कथा ग्रंथों में यह पद्धति मिलती है, इसका उदाहरण संघदासगणि की वसुदेवहिण्डी है, किंतु वसुदेवहिण्डी में जम्बूस्वामी ने प्रभवस्वामी को कहा- ऐसा भी उल्लेख है^५, जबकि दिगम्बर परम्परा के कथा ग्रंथों में सामान्यतया श्रेणिक के पूछने पर गौतम गणधर ने कहा- ऐसी पद्धति उपलब्ध होती है, जहां तक पउमचरियं का प्रश्न है, उसमें निश्चित ही श्रेणिक के पूछने पर गौतम ने रामकथा कही ऐसी ही पद्धति उपलब्ध होती है^६, किंतु मेरी दृष्टि में इस तथ्य को पउमचरियं के दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि पउमचरियं में स्त्री मुक्ति आदि ऐसे अनेक ठोस तथ्य हैं, जो श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में ही जाते हैं। यह सम्भव है कि संघभेद के पूर्व उत्तर भारत की निर्ग्रथ परम्परा में दोनों ही प्रकार की पद्धतियां समान रूप से प्रचलित रहीं हों और बाद में एक पद्धति का अनुसरण श्वेताम्बर आचार्यों ने किया हो और दूसरी का दिगम्बर या यापनीय आचार्यों ने किया है। यह तथ्य विमलसूरि की

परम्परा के निर्धारण में बहुत अधिक सहायक इसीलिए भी नहीं होता है कि प्राचीनकाल में, श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों में ग्रंथ प्रारम्भ करने की अनेक शैलिया प्रचलित रही हैं। दिगम्बर परम्परा में विशेष रूप से यापनीयों में जम्बूस्वामी और प्रभवस्वामी से भी कथा परम्परा के चलने का उल्लेख तो स्वयं पद्यचरित में ही मिलता है। वही क्रम श्वेताम्बर ग्रंथ वसुदेवहिण्डी में भी है।^{१०} श्वेताम्बर परम्परा में भी कुछ ऐसे भी आगम ग्रंथ हैं, जिनमें किसी श्राविका के पूछने पर श्रावक ने कहा- इससे ग्रंथ का प्रारम्भ किया गया है। 'देविन्दत्थव' नामक प्रकीर्णक में श्रावक-श्राविका के संवाद के रूप में ही उस ग्रंथ का समस्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।^{११} आचारांग में शिष्य की जिज्ञासा समाधान हेतु गुरु के कथन से ही ग्रंथ का प्रारम्भ हुआ है,^{१२} उसमें जम्बू और सुधर्मा से संवाद का कोई संकेत भी नहीं है। इससे यही फलित होता है कि प्राचीनकाल में ग्रंथ का प्रारम्भ करने की कोई एक निश्चित पद्धति नहीं थी। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, दशाश्रुतस्कंध, कल्प आदि अनेक ग्रंथों में भी जम्बूस्वामी और सुधर्मास्वामी के संवादवाली पद्धति नहीं पाई जाती है। पद्धतियों की एकरूपता और विशेष सम्प्रदाय द्वारा विशेष पद्धति का अनुसरण- यह एक परवर्ती घटना है, जबकि पउमचरियं अपेक्षाकृत एक प्राचीन रचना है।

(२) दिगम्बर विद्वानों ने पउमचरियं में महावीर के विवाह के अनुल्लेख (पउमचरियं २/२८-२९ एवं ३/५७-५८) के आधार पर उसे अपनी परम्परा के निकट बताने का प्रयास किया है, किंतु हमें स्मरण रखना चाहिए कि प्रथम तो पउमचरियं में भ. महावीर का जीवन-प्रसंग अतिसंक्षिप्त रूप से वर्णित है, अतः महावीर के विवाह का उल्लेख न होने से उसे दिगम्बर परम्परा का ग्रंथ नहीं माना जा सकता है। स्वयं श्वेताम्बर परम्परा के कई प्राचीन ग्रंथ ऐसे हैं, जिनमें महावीर के विवाह का उल्लेख नहीं है। पं. दलसुखभाई मालवणिया ने स्थानांग एवं समवायांग के टिप्पण में लिखा है^{१३} कि भगवतीसूत्र के विवरण में महावीर के विवाह का उल्लेख नहीं मिलता है। विवाह का अनुल्लेख एक अभावात्मक प्रमाण है, जो अकेला निर्णायक नहीं माना जा सकता, जब तक कि अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध नहीं हो जाए कि पउमचरियं दिगम्बर या यापनीय ग्रंथ है।

(३) पुनः पउमचरियं में महावीर के गर्भ-परिवर्तन का उल्लेख नहीं मिलता है, किंतु मेरी दृष्टि से इसका कारण भी उसमें भ. महावीर की कथा को अत्यंत संक्षेप में प्रस्तुत करना है। पुनः यहां भी किसी अभावात्मक तथ्य के आधार पर ही कोई निष्कर्ष निकालने

का प्रयत्न होगा, जो कि तार्किक दृष्टि से समुचित नहीं है।

(४) पउमचरियं में पांच स्थावरकार्यों^{११} के उल्लेख के आधार पर भी उसे दिगम्बर परम्परा के निकट बताने का प्रयास किया गया है, किंतु हमें यह ध्यान रखना होगा कि स्थावरों की संख्या तीन मानी गई हैं अथवा पांच, इस आधार पर ग्रंथ के श्वेताम्बर या दिगम्बर परम्परा का होने का निर्णय करना सम्भव नहीं है, क्योंकि दिगम्बर परम्परा में जहां कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय (१११) में तीन स्थावरों की चर्चा की है, वहीं अन्य आचार्यों ने पांच की चर्चा की है। इसी प्रकार श्वेताम्बर परम्परा के उत्तराध्ययन आदि प्राचीन ग्रंथों में भी, तीन स्थावरों की तथा पांच स्थावरों की- दोनों मान्यताएं उपलब्ध होती हैं। अतः ये तथ्य विमलसूरि और उनके ग्रंथ की परम्परा के निर्णय का आधार नहीं बन सकते। इस तथ्य की विशेष चर्चा हमने तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के प्रसंग में की है, साथ ही एक स्वतंत्र लेख भी श्रमण अप्रैल-जून ६३ में प्रकाशित किया है, पाठक इसे वहां देखें।

(५) कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पउमचरियं में १४ कुलकरों की अवधारणा पाई जाती है^{१२} दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति में भी १४ कुलकरों की अवधारणा का समर्थन देखा जाता है^{१३}, अतः यह ग्रंथ दिगम्बर परम्परा का होना चाहिए, किंतु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में अंतिम कुलकर के रूप में ऋषभ का उल्लेख है। ऋषभ के पूर्व नाभिराय तक १४ कुलकारों की अवधारणा तो दोनों परम्पराओं में समान है। अतः यह अंतर ग्रंथ के सम्प्रदाय के निर्धारण में महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता है। पुनः जो कुलकरों के नाम पउमचरियं में दिए गए हैं, उनका जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और तिलोयपण्णत्ति दोनों से ही कुछ अंतर है।

(६) पउमचरियं के १४वें अधिकार की गाथा ११५ में समाधिमरण को चार शिक्षाव्रतों के अंतर्गत परिगणित किया गया है,^{१४} किंतु श्वेताम्बर आगम उपासकदशा में समाधिमरण का उल्लेख शिक्षाव्रतों के रूप में नहीं हुआ है। जबकि दिगम्बर परम्परा के कुन्दकुन्द आदि कुछ आचार्य समाधिमरण को १२वें शिक्षाव्रत के रूप में अंगीकृत करते हैं।^{१५} अतः पउमचरियं दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध होना चाहिए। इस संदर्भ में मेरी मान्यता यह है कि गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों में एकरूपता का अभाव पाया जाता है^{१६}, दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ का अनुसरण करने वाले दिगम्बर आचार्य भी समाधिमरण को शिक्षाव्रतों में परिग्रहित नहीं करते हैं, जबकि कुन्दकुन्द ने उसे शिक्षाव्रतों में परिग्रहित किया है। जब दिगम्बर परम्परा ही इस प्रश्न पर एकमत नहीं है, तो फिर इस आधार पर पउमचरियं की

परम्परा का निर्धारण कैसे किया जा सकता है? साम्प्रदायिक मान्यताओं के स्थरीकरण के पूर्व निर्गन्ध परम्परा में विभिन्न धारणाओं की उपस्थिति एक सामान्य बात थी। अतः इस ग्रंथ के सम्प्रदाय का निर्धारण करने में व्रतों के नाम एवं क्रम सम्बन्धी मतभेद सहायक नहीं हो सकते।

(७) पउमचरियं में अनुदिक् का उल्लेख हुआ है।^{१७} श्वेताम्बर आगमों में अनुदिक् का उल्लेख नहीं है, जबकि दिगम्बर ग्रंथ (यापनीय ग्रंथ) षट्खण्डागम एवं तिलोयपण्णत्ति में इसका उल्लेख पाया जाता है।^{१८} किंतु मेरी दृष्टि में प्रथम तो यह भी पउमचरियं के सम्प्रदाय निर्णय के लिए महत्त्वपूर्ण साक्ष्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अनुदिक् की अवधारणा से श्वेताम्बरों का भी कोई विरोध नहीं है। दूसरे जब अनुदिक् शब्द स्वयं आचारांग में उपलब्ध है^{१९}, तो फिर हमारे दिगम्बर विद्वान् यह कैसे कह देते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में अनुदिक् की अवधारणा नहीं है?

(८) पउमचरियं में दीक्षा के अवसर पर भ. ऋषभ द्वारा वस्त्रों के त्याग का उल्लेख मिलता है।^{२०} इसी प्रकार भरत द्वारा भी दीक्षा ग्रहण करते समय वस्त्रों के त्याग का उल्लेख है^{२१}, किंतु यह दोनों संदर्भ भी पउमचरियं के दिगम्बर या यापनीय होने के प्रमाण नहीं कहे जा सकते, क्योंकि श्वेताम्बर मान्य ग्रंथों में भी दीक्षा के अवसर पर वस्त्राभूषण त्याग का उल्लेख तो मिलता ही है।^{२२} यह भिन्न बात है कि श्वेताम्बर ग्रंथों में उस वस्त्र त्याग के बाद कहीं देवदुष्य का ग्रहण भी दिखाया जाता है।^{२३} भ. ऋषभ, भरत, भ. महावीर आदि की अचेलता तो स्वयं श्वेताम्बरों को भी मान्य है। अतः पं. परमानंद शास्त्री का यह तर्क ग्रंथ के दिगम्बरत्व का प्रमाण नहीं माना जा सकता है।^{२४}

(९) पं. परमानंद शास्त्री के अनुसार पउमचरियं में नरकों की संख्या का जो उल्लेख मिलता है वह आचार्य पूज्यपाद के सर्वार्थसिद्धिमान्य तत्त्वार्थ के पाठ के निकट है, जबकि श्वेताम्बर भाष्य-मान्य तत्त्वार्थ के मूलपाठ में यह उल्लेख नहीं है, किंतु तत्त्वार्थभाष्य एवं अन्य श्वेताम्बर आगमों में इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होने से इसे भी निर्णायक तथ्य नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार नदियों के विवरण का तथा भरत और एरावत क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के विभाग आदि तथ्यों को भी ग्रंथ के दिगम्बरत्व के प्रमाण हेतु प्रस्तुत किया जाता है, किंतु ये सभी तथ्य श्वेताम्बर ग्रंथों में भी उल्लेखित हैं।^{२५} अतः ये तथ्य ग्रंथ के दिगम्बरत्व या श्वेताम्बरत्व के निर्णायक नहीं कहे जा सकते। मूल परम्परा के एक होने से अनेक बातों में एकरूपता का होना तो

स्वाभाविक ही है। पुनः षट्खण्डागम, तिलोयपण्णति, तत्त्वार्थसूत्र के पउमचरियं का अनुसरण देखा जाना आश्चर्यजनक नहीं है, किंतु इनके आधार पर पउमचरियं की परम्परा को निश्चित नहीं किया जा सकता है। पूर्ववर्ती ग्रंथ के आधार पर परवर्ती ग्रंथ की परम्परा का निर्धारण तो सम्भव है, किंतु परवर्ती ग्रंथों के आधार पर पूर्ववर्ती ग्रंथ की परम्परा निश्चय नहीं की जा सकती है। पुनः पउमचरियं में तीर्थकर माता के १४ स्वप्न, तीर्थकर, नामकर्मबंध के बीस कारण, चक्रवर्ती की रानियों की ६४००० संख्या, भ. महावीर के द्वारा मेरुकम्पन, स्त्रीमुक्ति का स्पष्ट उल्लेख आदि अनेक ऐसे तथ्य हैं जो स्त्री मुक्ति निषेधक दिगम्बर परम्परा के विपक्ष में जाते हैं। विमलसूरि के सम्पूर्ण ग्रंथ में दिगम्बर शब्द का अनुल्लेख और सियम्बर शब्द का एकाधिक बार उल्लेख होने से उसे किसी भी स्थिति में दिगम्बर परम्परा का ग्रंथ सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

क्या पउमचरियं श्वेताम्बर परम्परा का ग्रंथ है ?

आएं अब इसी प्रश्न पर श्वेताम्बर विद्वानों के मंतव्य पर भी विचार करें और देखें कि क्या वह श्वेताम्बर परम्परा का ग्रंथ हो सकता है ?

पउमचरियं के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किए जाते हैं -

(१) विमलसूरि ने लिखा है कि 'जिन' के मुख से निर्गत अर्थरूप वचनों को गणधरों ने धारण करके उन्हें ग्रंथरूप दिया- इस तथ्य को मुनि कल्याणविजय जी ने श्वेताम्बर परम्परा सम्मत बताया है, क्योंकि श्वेताम्बर परम्परा की निर्युक्ति में इसका उल्लेख मिलता है।^{२६}

(२) पउमचरियं (२/२६) में भ. महावीर के द्वारा अंगूठे से मेरुपर्वत को कम्पित करने की घटना का भी उल्लेख हुआ है, यह अवधारणा भी श्वेताम्बर परम्परा में बहुत प्रचलित है।

(३) पउमचरियं (२/३६-३७) में यह भी उल्लेख है कि भ. महावीर केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भव्य जीवों को उपदेश देते हुए विपुलाचल पर्वत पर आए, जबकि दिगम्बर परम्परा के अनुसार भ. महावीर ने ६६ दिनों तक मौन रखकर विपुलाचल पर्वत पर अपना प्रथम उपदेश दिया। डॉ. हीरालाल जैन एवं डॉ. उपाध्ये ने भी इस कथन को श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में माना है।^{२७}

(४) पउमचरियं (२/३३) में महावीर का एक अतिशय यह माना गया है कि वे देवों के द्वारा निर्मित कमलों पर पैर रखते हुए यात्रा करते थे, यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसे श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में प्रमाण माना है, किंतु मेरी दृष्टि में यह कोई महत्त्वपूर्ण प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यापनीय आचार्य हरिषेण एवं स्वयम्भू आदि ने भी इस अतिशय का उल्लेख किया है।

(५) पउमचरियं (२/८२) में तीर्थकर नामकर्म प्रकृति के बंध के बीस कारण माने हैं। यह मान्यता आवश्यकनिर्युक्ति और ज्ञाताधर्मकथा के समान ही है। दिगम्बर एवं यापनीय दोनों ही परम्पराओं में इसके १६ ही कारण माने जाते रहे हैं। अतः इस उल्लेख को श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में एक साक्ष्य कहा जा सकता है।

(६) पउमचरियं में मरूदेवी और पद्मावती - इन तीर्थकर माताओं के द्वारा १४ स्वप्न देखने का उल्लेख है।^{२८} यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा १६ स्वप्न मानती हैं। इसी प्रकार इसे भी ग्रंथ के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के सम्बंध में प्रबल साक्ष्य माना जा सकता है। पं. नाथूराम जी प्रेमी ने यहां स्वप्नों की संख्या १५ बताई है।^{२९} भवन और विमान को उन्होंने दो अलग-अलग स्वप्न माना है, किंतु श्वेताम्बर परम्परा में ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि जो तीर्थकर नरक से आते हैं, उनकी माताएं भवन और जो तीर्थकर देवलोक से जाते हैं, उनकी माताएं विमान देखती हैं। यह एक वैकल्पिक व्यवस्था है, अतः संख्या चौदह ही होगी। अतः भवन और विमान वैकल्पिक स्वप्न माने गए हैं, इस प्रकार माता द्वारा देखे जाने वाले स्वप्न की संख्या तो १४ ही रहती है (आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति पृ. १०८)। स्मरण रहे कि यापनीय रविषेण ने पउमचरियं के ध्वज के स्थान पर मीन-युगल को माना है। ज्ञातव्य है कि प्राकृत 'झय' के संस्कृत रूप 'ध्वज' तथा झष (मीन-युगल) दोनों सम्भव हैं। साथ ही सागर के बाद उन्होंने सिंहासन का उल्लेख किया है और विमान तथा भवन को अलग-अलग स्वप्न माना है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि स्वप्न सम्बंधी पउमचरियं की यह गाथा श्वेताम्बर मान्य 'नायधम्मकहा' से बिलकुल समान है।^{३०} अतः यह अवधारणा भी ग्रंथ के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के सम्बंध में प्रबल साक्ष्य है।

(७) पउमचरियं में भरत और सगर चक्रवर्ती की ६४ हजार रानियों का उल्लेख मिलता है^{३१}, जबकि दिगम्बर परम्परा में चक्रवर्तियों की रानियों की संख्या ९६ हजार बताई है।^{३२} अतः यह साक्ष्य भी दिगम्बर और यापनीय परम्परा के विरुद्ध है और मात्र श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में जाता है।

(८) भ. अजितनाथ और भ. मुनिसुव्रतस्वामी के वैराग्य के कारणों को तथा उनके संघस्थ साधुओं की संख्या को लेकर पउमचरियं और तिलोयपण्णत्ति में मत वैभिन्न्य है^{३३}, किंतु ऐसा मतवैभिन्न्य एक ही परम्परा में भी देखा जाता है, अतः इसे ग्रंथ के श्वेताम्बर होने का सबल साक्ष्य नहीं कहा जा सकता है।

(९) पउमचरियं और तिलोयपण्णत्ति में बलदेवों के नाम एवं क्रम को लेकर मतभेद देखा जाता है, जबकि पउमचरियं में दिए गए नाम एवं क्रम श्वेताम्बर परम्परा में यथावत् मिलते हैं^{३४} अतः इसे भी ग्रंथ के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के पक्ष में एक साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि यह स्मरण रखना होगा कि पउमचरियं में भी राम को बलदेव भी कहा गया है।

(१०) पउमचरियं में १२ देवलोकों का उल्लेख है, जो कि श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुरूप है^{३५} जबकि यापनीय रविषेण और दिगम्बर परम्परा के अन्य आचार्य देवलोकों की संख्या १६ मानते हैं, अतः इसे भी ग्रंथ के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने का प्रमाण माना जा सकता है।

(११) पउमचरियं में सम्यकदर्शन को पारिभाषित करते हुए यह कहा गया है कि जो नव पदार्थों को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है^{३६} पउमचरियं में कहीं भी ७ तत्त्वों का उल्लेख नहीं हुआ है। पं. फूलचंदजी के अनुसार यह साक्ष्य ग्रंथ के श्वेताम्बर होने के पक्ष में जाता है^{३७} किंतु मेरी दृष्टि में नव पदार्थों का उल्लेख दिगम्बर परम्परा में भी पाया जाता है, अतः इसे ग्रंथ के श्वेताम्बर होने का महत्त्वपूर्ण साक्ष्य तो नहीं कहा जा सकता। दोनों ही परम्परा में प्राचीनकाल में नवपदार्थ ही माने जाते थे, किंतु तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात् दोनों में सात तत्त्वों की मान्यता भी प्रविष्ट हो गई, चूंकि श्वेताम्बर प्राचीन स्तर के आगमों का अनुसरण करते थे, अतः उनमें ९ तत्त्वों की मान्यता की प्रधानता बनी रही, जबकि दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ के अनुसरण के कारण सात तत्त्वों की प्रधानता स्थापित हो गई।

(१२) पउमचरियं में उसके श्वेताम्बर होने के संदर्भ में जो सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध होते हैं, वह यह कि उसमें कैकयी को मोक्ष की प्राप्ति बताई गई है^{३८}, इस प्रकार पउमचरियं स्त्रीमुक्ति का समर्थक माना जा सकता है। यह तथ्य दिगम्बर परम्परा के विरोध में जाता है, किंतु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यापनीय भी स्त्रीमुक्ति तो स्वीकार करते थे, अतः यह दृष्टि से यह ग्रंथ श्वेताम्बर और यापनीय दोनों परम्पराओं से

सम्बद्ध या उनका पूर्वज माना जा सकता है।

(१३) इसी प्रकार पउमचरियं में मुनि का आशीर्वाद के रूप में धर्मलाभ कहते हुए दिखाया गया है,^{३९} जबकि दिगम्बर परम्परा में मुनि आशीर्वचन के रूप में धर्मवृद्धि कहता है, किंतु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि धर्मलाभ कहने की परम्परा न केवल श्वेताम्बर है, अपितु यापनीय भी है। यापनीय मुनि भी श्वेताम्बर मुनियों के समान धर्मलाभ ही कहते थे^{४०}

ग्रंथ के श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के इन अन्तःसाक्ष्यों के परीक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ग्रंथ के अन्तःसाक्ष्य मुख्य रूप से उनके श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के पक्ष में अधिक हैं। विशेष रूप से स्त्री-मुक्ति का उल्लेख यह सिद्ध कर देता है कि यह ग्रंथ स्त्री-मुक्ति निषेधक दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध नहीं हो सकता है।

(१४) विमलसूरि ने पउमचरियं के अंत में अपने को नाइल (नागेंद्र) वंशानन्दीकर आचार्य राहू का प्रशिष्य और आचार्य विजय का शिष्य बताया है।^{४१} साथ ही पउमचरियं का रचनाकाल वी.नि.सं. ५३० कहा है।^{४२} ये दोनों तथ्य भी विमलसूरि एवं उनके ग्रंथ के सम्प्रदाय निर्धारण हेतु महत्वपूर्ण आधार माने जा सकते हैं। यह स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में नागेंद्र कुल का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है, जबकि श्वेताम्बर मान्य कल्पसूत्र स्थविरावली में आर्यवज्र के प्रशिष्य एवं ब्रजसेन के शिष्य आर्य नाग से नाईल या नागिल शाखा के निकलने का उल्लेख है।^{४३} श्वेताम्बर पट्टावलियों के अनुसार भी ब्रजसेन के शिष्य आर्य नाग ने नाइल शाखा प्रारम्भ की थी। विमलसूरि इसी नागिल शाखा में हुए हैं। नन्दीसूत्र में आचार्य भूतदिन्न को भी नाइलकुलवंशनन्दीकर कहा गया है।^{४४} यही बिरुद्ध विमलसूरि ने अपने गुरुओं आर्य एवं आर्य विजय को भी दिया है। अतः यह सुनिश्चित है कि विमलसूरि उत्तर भारत की निर्ग्रंथ परम्परा से सम्बंधित हैं और उनका यह 'नाइल कुल' श्वेताम्बरों में बारहवीं शताब्दी तक चलता रहा है। चाहे उन्हें आज के अर्थ में श्वेताम्बर न कहा जाए, किंतु वे श्वेताम्बरों के अग्रज अवश्य हैं, इसमें किसी प्रकार के मतभेद की सम्भावना नहीं है।

पउमचरियं जैनों के सम्प्रदाय-भेद से पूर्व का है

पउमचरियं के सम्प्रदाय का निर्धारण करने हेतु यहां दो समस्याएं विचारणीय हैं - प्रथम तो यह कि यदि पउमचरियं का रचनाकाल वी.नि.सं. ५३० है, जिसे अनेक

आधारों पर अयथार्थ भी नहीं कहा जा सकता है, तो वे उत्तरभारत के सम्प्रदाय विभाजन के पूर्व के आचार्य सिद्ध होंगे। यदि हम भ. महावीर का निर्वाण ई.पू. ४६७ मानते हैं, तो इस ग्रंथ का रचनाकाल ई.सन् ६४ और वि.सं. १२३ आता है। दूसरे शब्दों में पउमचरियं विक्रम की द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना है, किंतु विचारणीय यह है कि क्या वीर नि.सं. ५३० में नागिलकुल अस्तित्व में आ चुका था ? यदि हम कल्पसूत्र पट्टावली की दृष्टि से विचार करें, तो आर्य वज्र के शिष्य आर्य वज्रसेन और उनके शिष्य आर्य नाग महावीर की पाट परम्परा के क्रमशः १३वें, १४वें, १५वें स्थान पर आते हैं^{५५}, यदि आचार्यों का सामान्य काल ३० वर्ष मानें तो आर्यवज्रसेन और आर्यनाग का काल वीर नि. के ४२० वर्ष पश्चात् आता है, इस दृष्टि से वीर नि. के ५३० में वर्ष में नाइलकुल का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। यद्यपि पट्टावलियों में वज्र स्वामी के समय का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किंतु निह्नवों के सम्बंध में जो कथाएं हैं, उसमें आर्यरक्षित को आर्य भद्र और वज्रस्वामी को समकालीन बताया गया है और इस दृष्टि से वज्रस्वामी का समय वीर नि. ५८३ मान लिया गया है, किंतु यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। इस सम्बंध में विशेष उपाहोह करके कल्याणविजयजी ने आर्य वज्रसेन की दीक्षा वीर नि.सं. ४८६ में निश्चित की है। यदि इसे हम सही मान लें तो वीर नि.सं. ५३० में नाईल कुल का अस्तित्व मानने में कोई बाधा नहीं आती है। पुनः यदि कोई आचार्य दीर्घजीवी हो तो अपनी शिष्य परम्परा में सामान्यतया वह चार-पांच पीढ़ियां तो देख ही लेता है। वज्रसेन के शिष्य आर्य नाग, जिनके नाम पर नागेंद्र कुल की स्थापना हुई, अपने दादा गुरु आर्य वज्र के जीवनकाल में जीवित हो सकते हैं। इसी आधार पर उन्हें आर्य वज्र का सीधा शिष्य मानकर वज्रसेन को उनका गुरुभ्राता मान लिया गया और आर्यरक्षित के काल के आधार पर उनके काल का निर्धारण कर लिया गया, किंतु नन्दीसूत्र में आचार्यों के क्रम में बीच-बीच में अंतराल रहे हैं। अतः आचार्य विमलसूरि का काल वीर निर्वाण सं. ५३० अर्थात् विक्रम की दूसरी शताब्दी का पूर्वार्ध मानने में कोई बाधा नहीं आती है। यदि हम पउमचरियं के रचनाकाल वीर नि.सं. ५३० को स्वीकार करते हैं, तो यह स्पष्ट है कि उस काल तक उत्तरभारत के निर्ग्रथ संघ में विभिन्न कुल शाखाओं की उपस्थिति और उनमें कुछ मान्यता भेद या वाचनाभेद तो था, फिर भी स्पष्ट संघभेद नहीं हुआ था। दोनों परम्पराएं इस संघभेद को वीर निर्वाण सं. ६०६ या ६०९ में मानती हैं। अतः स्पष्ट है कि अपने काल की दृष्टि से भी विमलसूरि संघभेद के पूर्व के आचार्य हैं और इसीलिए उन्हें किसी सम्प्रदाय विशेष से जोड़ना सम्भव नहीं है।

पउमचरियं में स्त्रीमुक्ति आदि की जो अवधारणा है, वह भी यही सिद्ध करती है कि वे इन दोनों परम्पराओं के पूर्वज हैं, क्योंकि दोनों ही परम्पराएं स्त्रीमुक्ति को स्वीकार करती हैं। पुनः यह भी सत्य है कि सभी श्वेताम्बर आचार्य उन्हें अपनी परम्परा का मानते रहे हैं, जबकि यापनीय रविषेण और स्वयंभू ने उनके ग्रंथों का अनुसरण करते हुए भी उनके नाम का स्मरण तक नहीं किया है, इससे यही सिद्ध होता है कि वे उन्हें अपने से भिन्न परम्परा का मानते थे, किंतु यह स्मरण रखना होगा कि वे उसी युग में हुए हैं, जब श्वेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर का स्पष्ट भेद सामने नहीं आया था, यद्यपि कुछ विद्वान उनके ग्रंथ में मुनि के लिए 'सियंबर' शब्द के एकाधिक प्रयोग देखकर उनको श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध करना चाहेंगे, किंतु इस सम्बंध में कुछ सावधानियों की अपेक्षा है। विमलसूरि के इन दो-चार प्रयोगों को छोड़कर, हमें प्राचीन स्तर के साहित्य में कहीं भी श्वेताम्बर या दिगम्बर शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता है। स्वयं विमलसूरि द्वारा पउमचरियं में एक भी स्थल पर दिगम्बर शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। विद्वानों ने भी विमलसूरि के पउमचरियं में उपलब्ध श्वेताम्बर (सियंबर) शब्द के प्रयोग को सम्प्रदाय सूचक न मानकर उस युग के सवस्त्र मुनि का सूचक माना है, क्योंकि सीता साध्वी के लिए भी सियंबर शब्द का प्रयोग उन्होंने स्वयं किया होगा। मथुरा के ईसा की प्रथम-द्वितीय शती के अंकन भी इसकी पुष्टि करते हैं। जिस प्रकार सवस्त्र साध्वी सीता की विमलसूरि ने सियंबरा कहा उसी प्रकार सवस्त्र मुनि को भी सियंबर कहा होगा। उनका यह प्रयोग निर्गुण मुनियों द्वारा वस्त्र रखने की प्रवृत्ति का सूचक है, न कि श्वेताम्बर दिगम्बर संघभेद का। विमलसूरि निश्चित ही श्वेताम्बर और यापनीय- दोनों के पूर्वज हैं। श्वेताम्बर उन्हें अपने सम्प्रदाय का केवल इसीलिए मानते हैं कि वे उनकी पूर्व परम्परा से जुड़े हुए हैं।

श्रीमती कुसुम पटोरिया ने महावीर जयंती स्मारिका जयपुर वर्ष १९७७ ई. पृष्ठ २५७ पर इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि विमलसूरि और पउमचरियं यापनीय नहीं है। वे लिखती हैं कि 'निश्चित विमलसूरि एक श्वेताम्बराचार्य हैं। उनका नाइलवंश, स्वयंभू द्वारा उनका स्मरण न किया जाना तथा उनके (ग्रंथ में) श्वेताम्बर साधु का आदरपूर्वक उल्लेख- उनके यापनीय न होने के प्रत्यक्ष प्रमाण है।'

विमलसूरि और उनके ग्रंथ पउमचरियं को यापनीय मानने में सबसे बड़ी बाधा यह भी है कि उनकी कृति महाराष्ट्री प्राकृत को अपने ग्रंथ की भाषा नहीं बनाया है। यापनीयों ने सदैव ही अर्द्धमागधी से प्रभावित शौरसेनी प्राकृत को ही अपनी भाषा माना है।

अतः आदरणीय पं. नाथूराम प्रेमी ने उनके यापनीय होने के सम्बंध में जो सम्भावना प्रकट की है, वह समुचित प्रतीत नहीं होती है। यह ठीक है कि उनकी मान्यताओं की श्वेताम्बरों एवं यापनीयों दोनों में समानता है, किंतु इसका कारण उनका इन दोनों परम्पराओं का पूर्वज होना है- श्वेताम्बर या यापनीय होना नहीं। काल की दृष्टि से भी वे इन दोनों के पूर्वज ही सिद्ध होते हैं। पुनः यापनीय परम्पराएं रविषेण के महाकवि स्वयम्भू द्वारा उनकी कृति का पूर्णतः अनुसरण करने पर भी उनके नाम का उल्लेख नहीं करना, यही सूचित करता है कि वे उन्हें अपनी परम्परा का नहीं मानते थे। अतः सिद्ध यही होता है कि विमलसूरि श्वेताम्बर और यापनीय दोनों परम्परा के पूर्वज हैं। श्वेताम्बरों ने सदैव अपने पूर्वज आचार्यों को अपनी परम्परा का माना है। विमलसूरि के दिगम्बर होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, यापनीयों ने उनका अनुसरण करते हुए भी उन्हें अपनी परम्परा का नहीं माना, अन्यथा रविषेण और स्वयम्भू कहीं न कहीं नाम निर्देश अवश्य करते। पुनः यापनीयों की शौरसेनी प्राकृत को न अपना कर अपना काव्य महाराष्ट्री प्राकृत में लिखना यही सिद्ध करता है कि वे यापनीय नहीं हैं।

अतः विमलसूरि की परम्परा के सम्बंध में दो ही विकल्प हैं। यदि हम उनके ग्रंथ का रचनाकाल वीर निर्वाण संवत् ५३० मानते हैं, तो हमें उन्हें श्वेताम्बर और यापनीयों का पूर्वज मानना होगा, क्योंकि श्वेताम्बर दिगम्बरों की उत्पत्ति वीर निर्वाण के ६०६ वर्ष बाद और दिगम्बर श्वेताम्बरों की उत्पत्ति वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष बाद ही मानते हैं। यदि हम इस काल को वीर निर्वाण संवत् मानते हैं, वे श्वेताम्बरों और यापनीयों के पूर्वज सिद्ध होंगे और यदि इसे विक्रम संवत् मानते हैं, तो जैसा कि कुछ विद्वानों ने माना है, तो उन्हें श्वेताम्बर आचार्य मानना होगा।

संदर्भ -

१. पउमचरियं भाग-१, इण्ट्रोडक्सन पेज १८, फूटनोट नं.२
२. वही,
३. देखें, पद्मपुराण (रविषेण), भूमिका, डॉ. पन्नालाल जैन, पृ. २२-२३
४. पउमचरियं, इण्ट्रोडक्सन (वी.एम.कुलकर्णी), पेज १८-२२

५. ति तस्सेव पभवो कहेयव्वो, तप्पभवस्स य पभवस्य ति । वसुदेवहिण्डी (संघदासंगणि), गुजरात साहित्य अकादमी, गांधीनगर पृ.२
६. तह इन्दभूइकहियं सेणियरणस्स नीसेसं । - पउमचरियं १, ३३
७. वद्धं मानजिनेन्द्रोक्तः सोऽयमर्थो गणेश्वरं परिप्राप्तः सुधर्म धारिणीभवम् ॥ प्रभवं क्रमतः कीर्त्तिं ततोनुत्तरवाग्मिनं । लिखितं तस्य संप्राप्य सेवेयेत्नोयमुद्गतः ॥ - पद्यचरित १/४१-४२ एवं १२३-१६६
८. देविंदत्थओ (देवेन्द्रस्तव, सम्पादक-प्रो. सागरमल जैन, आगम-अहिंसा-समता-प्राकृत संस्थान, उदयपुर) गाथा क्रमांक- ३, ७, ११, १३, १४
९. सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं । - आचारांग (सं.मधुकर मुनि), १/१/१/१
१०. पउमचरियं, इण्ट्रोडक्सन, पृष्ठ १९ का फूटनोट क्र. १
११. पउमचरियं, २/६५ एवं २/६३
१२. पउमचरियं, ३/५५-५६
१३. तिलोयपण्णत्ति, महाधिकार गाथा-४२१ (जीवराज ग्रंथमाला शोलापुर)
१४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार ३
१५. पंच य अणुव्वयाइं तिण्णेव गुणव्वयाइं भणियाई ।
सिक्खावयाणि एत्तो चत्तारि जिणोवइट्टाणि ॥
थूलयरं पाणिवहं मूसावायं अदत्तदाणं च ।
परजुवईण निवित्ती संतोषसवयं च पंचमयं ॥
दिसिविदिसाण य नियमो अणत्थदंडस्स वज्जणं चेव ।
उपभोगपरीमाणं तिण्णेय गुणव्वया एए ॥
सामाइयं च उववास-पोसहो अतिहिसंविभागो य ।
अंते समाहिमरणं सिक्खासुवयाइ चत्तारि ॥
- पउमचरियं १४/११२-११५
१६. पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि ।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥

थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य ।
 परिहारो परमहिला परिग्गहारंभ परिमाणं ॥
 दिसविदिसमाणपढमं अणत्थदण्डस्स वज्जणं विदियं ।
 भोगोपभोगपरिमाण इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥
 सामाइयं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं ।
 तीइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥

- चरितपाहुड २२-२६

ज्ञातव्य है कि जटासिंह नन्दी ने भी वरांगचरित सर्ग २२ में
 विमलसूरि का अनुसरण किया है।

१७. देखिए जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक
 अध्ययन (लेखक- डॉ. सागरमल जैन) भाग-२, पृ.सं. २७४
१८. पउमचरियं, १०२/१४५
१९. पउमचरियं इण्ट्रोडक्सन, पृष्ठ १९, पद्मपुराण, भूमिका
 (पं.पन्नालाल), पृ.३०
२०. जो इमाओ (दिसाओ) अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ
 दिसाओ अणुदिसाओ, ओऽहं । आचारांग १/१/१/१,
 शीलांकटीका, पृ.१९। (ज्ञातव्य है कि मूल पउमचरियं में
 केवल 'अनुदिसाइं शब्द है जो कि आचारांग में उसी रूप में है।
 उससे नौ अनुदिशाओं की कल्पना दिखाकर उसे श्वेताम्बर आगमों
 में अनुपस्थित कहना उचित नहीं है।)
२१. देखिए पउमचरियं ३/१३५-३६
२२. पउमचरियं, ८३/५
२३. मुक्कं वासोजुयलं.....। - चउपन्नमहापुरिसचरियं, पृ. २७३
२४. एगं देवदूसमादाय पव्वइए। -कल्पसूत्र ११४
२५. पउमचरियं भाग-१ (इण्ट्रोडक्सन पेज १९, फुटनोट ५)
२६. 'जिणवरमुहाओ अत्थो सो गणहेरहि धरिउं' ।
 - आवश्यक निर्युक्ति १/१०
२७. देखें..... पद्मपुराण (आचार्य रविषेण), प्रकाशक भारतीय
 ज्ञानपीठ काशी, सम्पादकीय, पृ.७

२८. पउमचरियं, ३/६२/२१/१३
(यहां मरूदेवी और पद्मावती के स्वप्नों में समानता है, मात्र मरूदेवी के संदर्भ में 'वरसिरिदाम' शब्द आया है, जबकि पद्मावती के स्वप्नों में 'अभिसेकदाम' शब्द आया है- किंतु दोनों का अर्थ लक्ष्मी ही है।)
२९. जैन साहित्य और इतिहास (नाथूराम प्रेमी), पृष्ठ ९९।
३०. गायाधम्मकहा (मधुकर मुनि) प्रथम श्रुतस्कंध, अध्याय ८, २६
३१. पउमचरियं ४/५८, ५/९८
३२. पद्मपुराण (रविषेण), ४/६६, २४७
३३. देखें पउमचरियं २१/२२, पउमचरियं, इण्ट्रोडक्सन पेज २२
फुटनोट-३
३४. पउमचरियं, इण्ट्रोडक्सन पेज २१
३५. पउमचरियं, ७५/३५-३६ और १०२/४२-५४
३६. पउमचरियं, १०२/१८१
३७. अनेकान्त वर्ष ५, किरण १-२ तत्त्वार्थ सूत्र का अन्तः परीक्षण,
पं. फूलचंद्रजी पृ.५१
३८. सिद्धपयं उत्तमं पत्ता-पउमचरियं ८६/१२
३९. देखें, पउमचरियं इण्ट्रोडक्सन पज २१
४०. गोप्या, यापनीया। गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति।...
षट्दर्शनसमुच्चय टीका ४/१
४१. पउमचरियं, ११८/११७
४२. वही, ११८/१०३
४३. 'थेरहितो णं अज्जवइरसेणिएहितो एत्थ णं अज्जनाइली साहा
निग्गया'.... कल्पसूत्र २२१, पृ. ३०६
४४. नाइलकुल-वंसनादिकरे..... भूयदिन्नमायारिए । - नन्दीसूत्र ४४/४५
४५. पट्टावली परागसंग्रह (कल्याणविजयजी), पृ. २७ एवं १३८-१३९

पंचाशक प्रकरण की भूमिका

(ई. सन् की लगभग ८वीं शती)

पंचाशक (पंचासग)

आचार्य हरिभद्रसूरि की यह कृति जैन महाराष्ट्री प्राकृत में रचित है। इसमें उन्नीस पंचाशक हैं, जिसमें दूसरे में ४४ और सत्तरहवें में ५२ तथा शेष में ५०-५० पद्य हैं। वीरगणि के शिष्य श्री चंद्रसूरि के शिष्य यशोदेव ने पहले पंचाशक पर जैन महाराष्ट्री में वि.सं. ११७२ में एक चूर्ण लिखी थी, जिसमें प्रारम्भ में तीन पद्य और अंत में प्रशस्ति के चार पद्य हैं, शेष ग्रंथ गद्य में है, जिसमें सम्यक्त्व के प्रकार, उसके यतना, अभियोग और दृष्टांत के साथ-साथ मनुष्य भव की दुर्लभता आदि अन्यान्य विषयों का निरूपण किया गया है। समाचारी विषय का अनेक बार उल्लेख हुआ है। मण्डनात्मक शैली में रचित होने के कारण इसमें 'तुलादण्ड न्याय' का उल्लेख भी है, आवश्यक चूर्ण के देशविरति में जिस तरह नवपयपयरण में नौ द्वारों का प्रतिपादन है, उसी प्रकार यहां पर भी नौ द्वारों का उल्लेख है। पंचाशक का विस्तृत विवरण आगे दिया जा रहा है।

पंचाशक

प्रथम पंचाशक

प्रथम 'श्रावकधर्मविधि' पंचाशक के अंतर्गत श्रावक के आचार पर प्रकाश डाला गया है। कहा गया है- जो अनन्तानुबन्धी कषायों का नाश कर परलोक हेतु जिन-वचनों को सुनता है तथा गुरुओं की सेवा और भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा में निमग्न रहता है, वह उत्तम श्रावक है। आगमानुसार सम्यक्त्व के साथ-साथ श्रावकोचित व्रतों का पालन करना ही श्रावक का कर्तव्य है, किंतु वह श्रावकोचित व्रतों का पालन कभी कर पाता है, तो कभी नहीं कर पाता। व्रतों का अनुपालन चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम के होने पर होता है, जबकि सम्यक्त्व की प्राप्ति दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम के होने पर होती है। दर्शनमोह के उपशम, क्षय या क्षयोपशम के पश्चात् चारित्रमोह का भी क्षयोपशम आदि हो, यह आवश्यक नहीं है। अतः सम्यक्त्व के साथ श्रावक, व्रतों का पालन कभी कर पाता है और कभी नहीं कर पाता है। यहां प्रश्न

हो सकता है कि दर्शनमोह के क्षयोपशम के तुरंत बाद चारित्रमोह का क्षयोपशम क्यों नहीं होता है? परिणाम अर्थात् मनोभावों के भेद के कारण ऐसा होता है। चारित्रमोह के क्षयोपशम के लिए दर्शनमोह के क्षयोपशम की अपेक्षा विशेष मनोभावों या परिणामों की आवश्यकता होती है। इसलिए जब तक ऐसे विशेष मनोभाव या परिणाम नहीं आएं, चारित्रमोह का क्षयोपशम नहीं होगा।

अणुव्रत श्रावकों के लिए संसार-सागर को पार करने के लिए नौका के समान हैं। उनको पालन करने का भाव श्रावक में तब आता है, जब सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद मोहनीय आदि सात कर्मों की काल-स्थिति दो सौ नौ पल्योपम जितनी शेष रहती है। साधुओं के महाव्रत की अपेक्षा श्रावक के व्रत सीमित या आंशिक होते हैं, इसलिए उन्हें अणुव्रत कहा जाता है। स्थूलप्राणातिपातविरमण, स्थूलमृषावादविरमण, स्थूलअदत्तादानविरमण, परस्त्री-गमनविरमण (स्वदारसंतोष व्रत) तथा स्थूलपरिग्रहविरमण - ये पांच अणुव्रत हैं। इन अणुव्रतों की रक्षा के लिए गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों का विधान किया गया है। गुणव्रत मुख्यतः तीन हैं- दिशा-परिमाण व्रत, भोगोपभोगपरिमाण व्रत तथा अनर्थदण्डविरति। अणुव्रतों की साधना के लिए जिन विशेष गुणों की आवश्यकता होती है, उन्हें गुणव्रत कहा जाता है। शिक्षाव्रत चार हैं- सामायिक व्रत, देशावकाशिक व्रत, पौषधोपवास व्रत तथा अतिथिसंविभाग व्रत। शिक्षा का अर्थ होता है-अभ्यास। जिस प्रकार विद्यार्थी पुनः-पुनः विद्या का अभ्यास करता है, उसी प्रकार श्रावक को भी कुछ व्रतों का पुनः-पुनः अभ्यास करना पड़ता है। इसी अभ्यास के कारण इन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा गया है। व्रत-ग्रहण कर लेने के पश्चात् श्रावक के आचरण में शिथिलता आने लगती है, जिसके कारण वह दोषमुक्त हो जाता है। फलतः व्रत से च्युत होने का भय बना रहता है। अतः सम्यक्त्वादि व्रतों के वर्णन के साथ-साथ इस प्रथम पंचाशक में उनके अतिचारों का भी विस्तार से वर्णन आया है। कहा गया है - सम्यक्त्वादि व्रतों के पालन हेतु उपाय, रक्षण, ग्रहण, प्रयत्न और विषय आदि पांच बातों पर श्रावक को विशेष ध्यान देना चाहिए। जिस प्रकार कुम्हार के द्वारा चक्र के किसी एक भाग को चलाने से पूरा चक्र घूमता है, उसी प्रकार यहां सम्यक्त्व और अणुव्रतों का निरूपण करने से उनकी प्राप्ति के उपाय आदि का भी सूचन हो जाता है।

उपर्युक्त श्रावक धर्मों में पांच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों का पालन प्रायः जीवनपर्यंत होता है, जबकि शिक्षाव्रतों का पालन थोड़े समय के लिए किया जाता है।

तात्पर्य है अणुव्रत और गुणव्रत जीवन में एक बार ग्रहण किए जाते हैं और उनका पालन जीवनपर्यंत करना होता है, जबकि शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किए जाते हैं और उनका अनुपालन एक सीमित समय के लिए होता है। इस पंचाशक में अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के अतिरिक्त भी अन्य कुछ सामान्य आचार-नियमों पर भी प्रकाश डाला गया है, जैसे- जहां साधुओं का आगमन होता हो, समीप में जिनमंदिर हो तथा आसपास सहधर्मी श्रावकों का निवास हो, ऐसे स्थान पर ही श्रावक को निवास करना चाहिए। श्रावक के कुछ प्रातःकरणीय आचरण इस प्रकार हैं- प्रातः नवकार मंत्र का जाप करते हुए जागना, मैं अणुव्रती श्रावक हूं, ऐसा विचार कर अपने आचार-नियमों का स्मरण करने के पश्चात् दैनन्दिन क्रियाओं से निवृत्त होना, फिर विधिपूर्वक जिनप्रतिमा की पूजा करना, जिनमंदिर जाकर जिनेंद्रदेव का सत्कार करना, चैत्यवंदन करना, गुरु के समीप प्रत्याख्यान करना, गुरु से आगम का श्रवण करना, तत्पश्चात् उनके स्वास्थ्य के बारे में पूछना, बीमारी आदि होने पर ओषधि की व्यवस्था करना, शास्त्र के विरुद्ध व्यापार न करना, शास्त्रोक्त विधि से यथा-समय भोजन ग्रहण करना, भोजनोपरांत प्रत्याख्यान लेना, पुनः संध्या को जिनमंदिर जाकर जिनमूर्ति के समक्ष चैत्यवंदन आदि करना, आगमों का श्रवण करना, वैयावृत्य द्वारा ग्लान साधुओं की थकान दूर-करना, नमस्कार महामंत्र का स्मरण करते हुए विधिपूर्वक सोना, यथाशक्ति मैथुन का त्याग करना तथा त्यागी श्रावकों के प्रति विशेष आदर-भाव रखना, अंतिम प्रहर में रात्रि के बहुत कुछ शेष रहने पर कर्म, आत्मा आदि सूक्ष्म पदार्थों के स्वरूप का चिंतन करना तथा शुभ अनुष्ठान में बाधक रागादि दोषों के निरोध में मन को लगाना आदि। अंत में हरिभद्र कहते हैं कि इस प्रकार उपर्युक्त विधि से श्रावक-धर्म का अनुष्ठान करने वाले श्रावक का संसार-वियोग के कारण चारित्र (दीक्षा) लेने का मनोभाव (परिणाम) उत्पन्न होता है।

द्वितीय पंचाशक

द्वितीय 'जिनदीक्षाविधि' पंचाशक के अंतर्गत मुमुक्षुओं के दीक्षा-विधान पर प्रकाश डाला गया है। किसी व्यक्ति द्वारा अपने सगे-सम्बंधियों से क्षमा-याचना करके गुरु की शरण में जाकर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करते हुए समभाव की साधना करने की प्रतिज्ञा लेना जिनदीक्षाविधि कहलाती है। वस्तुतः, दीक्षा मुण्डन संस्कार है, जिसमें मुख्यतः चित्त की दुर्वासनाओं का मुण्डन होता है, क्योंकि मिथ्यात्व, क्रोध आदि को दूर किए बिना व्यक्ति दीक्षा का अधिकारी नहीं हो सकता है। जैन धर्म में दीक्षा का अधिकारी वही

हो सकता है, जिसमें साधना के प्रति अनुराग हो तथा जिसने लोक-व्यवहार में निषिद्ध कार्यों का त्याग कर दिया हो। साधना के प्रति अनुराग की यह भावना कभी तो व्यक्ति में स्वतः ही उत्पन्न होती है, तो कभी वैराग्योत्पादक धर्मोपदेश सुनकर या दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी मोक्ष-मार्ग का अनुसरण कर रहे व्यक्तियों को देखकर भी उत्पन्न होती है, लेकिन व्यक्ति जब तक पर-निंदा, श्रेष्ठपुरुषों का तिरस्कार, धार्मिक आचार का उपहास एवं लोकविरुद्ध कार्यों का त्याग नहीं कर देता, तब तक वह दीक्षा का पूर्णतः अधिकारी नहीं हो सकता है। यहां पर कुछ विद्वानों ने अपने विरोधात्मक मत को प्रकट करते हुए विघ्नों के अभाव अथवा सद्भाव में भी अत्यंत चैतसिक दृढ़ता को ही दीक्षा की योग्यता माना है। इसी प्रसंग में आचार्य हरिभद्र ने दीक्षा-सम्बन्धी कर्मकाण्ड का भी निरूपण किया है, जो हिन्दू तान्त्रिक साधना से पूर्णतः प्रभावित हैं। वे लिखते हैं- दीक्षा लेने से पूर्व दीक्षा-स्थल की शुद्धि आवश्यक है। अतः मुक्ता-शुक्ति के समान हाथ की मुद्रा बनाकर तथा वायुकुमार आदि देवताओं का मंत्रों द्वारा आह्वान कर, जलसिंचन से उनका सम्मान करते हुए ऐसी कल्पना करनी चाहिए कि वायुकुमार समवसरण की भूमि शुद्ध कर रहे हैं। तत्पश्चात् मेघकुमार द्वारा जल की वर्षा की भावना करनी चाहिए। तदुपरांत बसंत, ग्रीष्म आदि ऋतुओं, अग्निकुमार आदि देवताओं का आह्वान करके धूपबत्ती जलानी चाहिए। वैमानिक, ज्योतिष्क एवं भवनवासी देवताओं का आह्वान कर समवसरण के रत्न, सुवर्ण और रौप्य (चांदी) जैसे रंग वाले तीन प्राकार बनाने चाहिए, क्योंकि भगवान् के समवसरण में वैमानिक देवताओं द्वारा अंतर, मध्य और बाह्य- ये तीन प्राकार क्रमशः रत्न, सुवर्ण और चांदी के बनाए जाते हैं। इसके बाद व्यन्तरदेवों का आह्वान करके उन प्राकारों के द्वारादि के तोरण, पीठ, देवछन्द, पुष्करिणी आदि की रचना की जाती है। जिस प्रकार समवसरण में स्वयं भगवान् विराजित होते हैं, उसी प्रकार यहां चतुर्दिशाओं में जिनेन्द्रदेव के बिम्बों की उत्कृष्ट चंदन के ऊपर स्थापना करनी चाहिए। जिनबिम्ब के दक्षिण-पूर्व भाग के गणधरों के पीछे मुनियों की, मुनियों के पीछे वैमानिक देवियों की और देवियों के पीछे सांध्यियोंकी स्थापना करनी चाहिए। इसी प्रकार दक्षिण-पश्चिम दिशा में भवनवासियों, व्यन्तरों तथा ज्योतिष्क-देवियों की स्थापना करनी चाहिए (कुछ सिद्धांतवेत्ताओं ने भवनपतियों आदि की स्थापना के लिए केवल पश्चिमोत्तर दिशा निर्दिष्ट की है)। पूर्वोत्तर दिशा में वैमानिक देवों, मनुष्यों और नारीगण की स्थापना करनी चाहिए। द्वितीय प्राकार में सर्प, नेवला, मृग, सिंह, अश्व, भैंसा आदि प्राणियों की स्थापना करके तृतीय प्राकार में देवताओं के हाथी, मगर, सिंह, मोर, कलहंस आदि आकार वाले

वाहनों की स्थापना की जानी चाहिए। इतनी विधि पूर्ण होने के बाद दीक्षार्थी द्रव्य अर्थात् शारीरिक शुद्धि और भाव अर्थात् मानसिक शुद्धि दोनों से पवित्र होकर शुभ मुहूर्त में समवसरण में प्रवेश करता है। तीव्र श्रद्धा वाले उस दीक्षार्थी को सर्वप्रथम जिनशासन की आचार-विधि बतलाई जाती है। दीक्षार्थी के हाथों में सुगंधित पुष्प देकर उसकी आंखों को श्वेत वस्त्र से ढककर जिनबिम्ब पर पुष्प फेंकने को कहा जाता है, ताकि यह पता लग सके कि वह किस गति से आया है और किस गति में जाएगा। समवसरण में जिस भाग पर पुष्प गिरता है, उससे उसकी गति जानी जाती है। दीक्षार्थी की आगति एवं गति के विषय में कुछ आचार्यों का कहना है कि आचार्य के मन आदि योगों की प्रवृत्ति के आधार पर भी शुभाशुभ गति जानी जाती है। कुछ लोगों का मानना है कि दीप, चंद्र एवं तारों के तेज अधिक हों तो दीक्षार्थी की शुभ गति होती है, अन्यथा अशुभ गति होती है। जिनबिम्ब पर पुष्प फेंकने के साथ ही दीक्षार्थी की योग्यता-अयोग्यता का निर्णय भी हो जाता है। पुष्प यदि समवसरण के बाहर गिरता है तो दीक्षार्थी दीक्षा के अयोग्य होता है और यदि समवसरण में पड़ता है तो वह दीक्षा के योग्य समझा जाता है। यदि पुष्पपात बाहर होता है तो सम्यक्त्व के शंका आदि अतिचारों की आलोचना करवाकर और अर्हदादि चार शरणों को स्वीकार करने की विधि कराकर पूर्ववत् पुष्पक्षेपण कराया जाता है। यह क्रिया तीन बार कराई जाती है। तीसरी बार में भी पुष्पपात समवसरण के बाहर होता है तो दीक्षार्थी अयोग्य समझा जाता है। योग्यता के निर्णय के पश्चात् दीक्षार्थी को गुरु जिन-दीक्षा की विधि सुनाते हैं, फिर जिन-दीक्षा के आचारों का वर्णन सुनकर शिष्य गुरु की तीन बार प्रदक्षिणा करता हुआ अन्तःकरण से निवेदन करता है कि मैं आपके प्रति पूर्ण समर्पित हूँ। अतः इस संसार-सागर से मेरा उद्धार कीजिए। भक्तिपूर्वक गुरु के प्रति आत्मसमर्पण श्रेष्ठतम दान धर्म है। गुरु को ऐसे ही समर्पित भाव वाले शिष्य प्रिय लगते हैं और वे उन्हें नियमानुसार दीक्षा प्रदान करते हैं। वे धन्य हैं जिन्हें ऐसी दीक्षा प्राप्त होती है। अतः दीक्षित व्यक्ति को अपने द्वारा गृहीत व्रतों एवं नियमों में, सहधर्मियों के प्रति वात्सल्यभाव में, तत्त्वज्ञान के अध्ययन में तथा गुरु के प्रति भक्ति में वृद्धि करते रहना चाहिए तथा दीक्षापूर्वक गृहीत लिंग (वेश) की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। जिनमें उपर्युक्त लक्षण दिखलाई देते हैं, उनकी दीक्षा ही सच्ची दीक्षा मानी जाती है। इस प्रकार क्रमशः सदगुणों की वृद्धि होने से महासत्त्वशाली जीव का कल्याण होता है और अंत में वह सभी कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

तृतीय पंचाशक

तृतीय पंचाशक में 'चैत्यवन्दनविधि' का प्रतिपादन किया गया है। वंदन मुख्यतः तीन प्रकार का माना गया है- जघन्य वंदन, मध्यम वंदन और उत्कृष्ट वंदन। चैत्यवन्दन के अधिकारी भी चार प्रकार के जीव ही हो सकते हैं- अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि, देशविरत और सर्वविरत। इन चार जीवों के अतिरिक्त अन्य जीव चैत्यवन्दन के अधिकारी नहीं होते, यहां तक कि वे द्रव्यवन्दन भी नहीं कर पाते, क्योंकि द्रव्यवन्दन वे ही कर सकते हैं जो भाववन्दन की योग्यता रखते हैं। अपुनर्बन्धक से भिन्न सकृद्बन्धकादि जीवों में भाववन्दन की योग्यता नहीं होती है, क्योंकि उनका संसार बहुत होता है। लेकिन शास्त्रों में सकृद्बन्धकादि एवं अभव्य जीवों में द्रव्यवन्दन की सम्भावना मानी गई है। यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक तरफ यह कहना कि सकृद्बन्धकादि जीव द्रव्य-वन्दन के अधिकारी नहीं हैं और दूसरी तरफ उनके द्वारा द्रव्य-वन्दन की सम्भावना को स्वीकार करना क्या सामान्य व्यक्ति को भ्रम में नहीं डाल देता। वस्तुतः, यह भ्रम इसलिए होता है कि प्रधान और अप्रधान दृष्टि से द्रव्यवन्दन भी दो प्रकार का होता है। द्रव्यवन्दन करने वाले व्यक्ति का चैत्यवन्दन में उपयोग नहीं होता है। उसका उपयोगरहित अर्थात् चित्तवृत्ति को उनमें जोड़े बिना किया गया वन्दन वस्तुतः वन्दन नहीं है। लेकिन भाव-वन्दन करने वाला व्यक्ति द्रव्य-वन्दन और भाव-वन्दन - इन दोनों में ही उपर्युक्त लक्षणों से युक्त होता है, क्योंकि चैत्यवन्दन के प्रति उसके मन में सजगता होती है, यद्यपि चैत्यवन्दन के लक्षणों में भावप्रधान लक्षण को ही प्रमुखता दी गई है। जिस प्रकार शरीर में अमृत के रस आदि धातु के रूप में परिणमित होने के पहले ही उसके प्रभाव से शरीर में पुष्टि, कान्ति आदि सुंदर भाव दिखते हैं, उसी प्रकार अपुनर्बन्धक आदि जीवों में मोक्ष का हेतु शुभभाव रूप अमृत एक बार उत्पन्न होने पर निश्चित रूप से नए-नए शुभभाव उत्पन्न करता है। सही मायने में देखा जाए तो चैत्यवन्दन एक परमसिद्धि है, जिससे मोक्ष जैसे परमपद की प्राप्ति होती है। चैत्यवन्दन में 'नामेत्थुणं सूत्र', जिसे प्रणिपात सूत्र भी कहा जाता है, बोलने का विधान है। यह प्रणिपात पंचांगी मुद्रा में बोला जाता है। इसी प्रकार चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) योगमुद्रा में, 'अरिहंत चेइयाणं' आदि सूत्र जिमुद्रा में तथा 'जयवीराय' सूत्र मुक्तासूक्ति मुद्रा सहित बोला जाता है। चैत्यवन्दन में चैत्यवन्दन सम्बन्धी क्रियाओं, सूत्रों के पदों, अकारादि वर्णों, सूत्रों के अर्थ और जिनप्रतिमा- इन पांचों के प्रति सजगता (उपयोग) आवश्यक है। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एकाग्रचित्त एक समय में एक ही विषय पर केंद्रित होता है, फिर

पांचों के प्रति सजगता कैसे हो सकती है? उत्तर में हरिभद्र कहते हैं कि उस एक विषय के अतिरिक्त अन्य विषय भी वहां उपस्थित होते हैं और क्रमिक रूप से सभी के प्रति उपयोग रहता है। जिस प्रकार मूल ज्वाला से नई-नई ज्वालाएं निकलकर मूल ज्वाला से अलग दिखती हैं, फिर भी उनको मूल ज्वाला से सम्बद्ध मानना पड़ता है, क्योंकि अलग हुई ज्वाला के परमाणु रूपान्तरित होकर वहां अवश्य रहते हैं, किंतु दिखलाई नहीं देते हैं। उसी प्रकार चैत्यवंदन के भिन्न-भिन्न उपयोग होने पर भी उपयोग का परावर्त अति तीव्र गति से होने के कारण हमें एक ही उपयोग जैसा दिखलाई पड़ता है, किंतु शेष उपयोगों के भाव भी वहां मौजूद होते हैं।

वंदना मोक्ष की प्राप्ति में निमित्त होती है (जीव भव्य और अभव्य दो प्रकार के होते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण-प्रवृत्तिकरण ही होता है)। मात्र द्रव्य चैत्यवंदन करने से मोक्ष नहीं होता है। किंतु शुद्धभाव पूर्वक चैत्यवंदन करने से ही मोक्ष होता है। चैत्यवंदन की इस शुद्धता-अशुद्धता के विषय पर आवश्यकनिर्युक्ति में सिक्के के प्रकारों को बताते हुए प्रकाश डाला गया है। कहा गया है कि स्वर्णादि द्रव्य शुद्ध और मुद्रा प्रामाणिक हो तो सिक्का असली होता है। स्वर्णादि द्रव्य शुद्ध हों, किंतु मुद्रा ठीक न हो तो रुपया पूर्णतः प्रामाणिक तो नहीं होता है, किंतु उसका कुछ मूल्य अवश्य होता है। मुद्रा ठीक हो, किंतु स्वर्णादि द्रव्य अशुद्ध हों तो रुपया जाली या नकली कहा जाता है। मुद्रा और द्रव्य दोनों के ही अप्रामाणिक होने से रुपया खोटा होता है, उसका कोई मूल्य ही नहीं होता। इसी प्रकार श्रद्धायुक्त, स्पष्ट उच्चारण एवं विधिसहित की गई वंदना शुद्ध मुद्रा के समान है। जो वंदना भाव से युक्त हो, परंतु वर्णोच्चारण आदि विधि से अशुद्ध हो, यह वंदना दूसरे प्रकार की वंदना के समान है। तीसरे और चौथे प्रकार की वंदना प्रायः अति दुःखी और मंद बुद्धि वाले जीवों को होती है। तीसरे और चौथे प्रकार की वंदना को लेकर विद्वानों में मत-भिन्नता देखने को मिलती है। कुछ आचार्यों का कहना है कि तीसरे और चौथे प्रकार की वंदना लौकिकी है, तो कुछ आचार्यों का कहना है कि ये दोनों वंदनाएं जिनवंदना हैं ही नहीं, क्योंकि इन वंदनाओं में जो भाव होने चाहिए वे नहीं होते। जहां तक प्रथम-द्वितीय वंदना को प्राप्त करने की बात है तो सभी जीव उसे प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि स्वभाव (जाति) से भव्य होने पर भी जो भव्य (दूर) हैं, वे जीव इस वंदना को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। भव्यत्व मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति होती हो, यह आवश्यक नहीं है। यदि ऐसा होता तो सभी भव्य जीवों को मोक्ष-प्राप्ति हो जाती। अतः आचार्यों ने कहा है कि जिस प्रकार किसी को दवा देनी हो तो उसकी अवस्था देखनी पड़ती है और उसी अनुसार

उचित मात्रा में दवा देने से लाभ होता है, उसी प्रकार सर्वकल्याणकारी वंदना विधि-योग्य जीवों को उनकी योग्यतानुसार विधिपूर्वक देनी चाहिए।

चतुर्थ पंचाशक ब

चतुर्थ पंचाशक में 'पूजाविधि' का वर्ण है, जिसके अंतर्गत पूजा का काल, शारीरिक शुचिता, पूजा-सामग्री, पूजा-विधि, स्तुति-स्तोत्र- इन पंचद्वारों का तथा प्रणिधान (संकल्प) और पूजा निर्दोषता का क्रमशः विवेचन किया गया है। सामान्यतया प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में पूजा की जाती है, लेकिन आचार्य हरिभद्र ने यहां बताया है कि नौकरी, व्यापार आदि आजीविका के कार्यों से जब भी समय मिले तब पूजा करनी चाहिए। यह अपवादमार्ग है, क्योंकि आजीविका-अर्जन के समय पूजा करने से कल्याण की परम्परा का विच्छेद होता है, जिससे गृहस्थ-जीवन की सभी क्रियाएं अवरुद्ध हो जाएंगी, क्योंकि सम्पत्ति के अभाव में दान-पूजा आदि कुछ नहीं होगा, इसलिए जिस समय आजीविका सम्बंधी क्रियाओं में व्यवधान न पड़ता हो, उस समय पूजा करनी चाहिए। समय के अतिरिक्त पूजा के लिए शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि की भी आवश्यकता है। शुद्धि दो प्रकार की होती है- द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि। स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनना द्रव्यशुद्धि है और अपनी स्थिति के अनुसार नीतिपूर्वक प्राप्त धन से पूजा करना भावशुद्धि है। यद्यपि खेती, व्यापार आदि से पृथ्वीकायिक आदि जीवों की हिंसा होती है, फिर भी वह हिंसा नहीं मानी जाती है, क्योंकि उनका भाव हिंसा का नहीं होता, जिस प्रकार कुआं खोदने में बहुत से जीवों की हत्या होती है, किंतु कुआं खोदने या खुदवाने वाले का आशय हिंसा करना नहीं होता, बल्कि जल निकालना होता है। उसी प्रकार जिन-पूजा के लिए स्नान करने में थोड़ी हिंसा तो होती है, किंतु पूजा के फलस्वरूप पुण्य बंध होने से लाभ ही होता है। पूजा के आरम्भ का त्याग करने वाले गृहस्थ को लोक में जिनशासन की निंदा और अबोधि नामक दोष आते हैं। इसी प्रकार न्याय, नीति से रहित अशुद्ध जीविका के अर्जन से भी दोष लगते हैं। अतः द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि- दोनों प्रकारों की शुद्धिपूर्वक पूजा करने का विधान है। पूजा करने के लिए सुगंधित पुष्प, धूप आदि सुगंधित औषधियों तथा विभिन्न जलों (इक्षुरस, दूध, घी आदि) से जिनप्रतिमा को स्नान कराकर अपनी सामर्थ्य के अनुसार पूजा करनी चाहिए। इहलौकिक और पारलौकिक कार्यों में पारलौकिक कार्य प्रधान होता है। जिनपूजा पारलौकिक कार्य है, अतः जिनपूजा में उत्तम साधनों अर्थात् द्रव्यों के उपयोग का सर्वोत्तम स्थान है। पूजा इतने आदर से करनी चाहिए कि चढ़ाई गई

पूजा की सामग्री देखने में सुंदर लगे। जैसे- प्रत्येक वस्तु का उपयोग अच्छी तरह से करना, पूजन-सामग्री का दृश्य सुंदर बनाना, पूजा के समय शरीर को न खुजलाना, नाक से श्लेष्म न निकालना विकथा न करना आदि। आदरपूर्वक एवं सारभूत-स्तुति तथा स्तोत्रसहित चैत्यवंदन करने से भगवान का सम्मान होता है। पूजा करते समय स्तुतियों या स्तोत्रों के अर्थ का ज्ञान यदि है, तो परिणाम शुभ होता है, लेकिन जिनको अर्थ का ज्ञान नहीं होता उनका भी रत्नज्ञानन्याय से परिणाम शुद्ध ही होता है। जिस प्रकार ज्वर आदि का शमन करने वाले रत्नों के गुण का ज्ञान रोगी को नहीं होता है, फिर भी रत्न उसके ज्वर को शांत कर देता है, उसी प्रकार भावरूपी रत्नों से युक्त स्तुति-स्तोत्र भी शुभभाव वाले होने के कारण उनके अर्थ का ज्ञान नहीं होने पर भी कर्मरूपी ज्वर आदि रोगों को दूर कर देते हैं। अतः शुभभाव प्रधान स्तुति-स्तोत्रपूर्वक ही चैत्यवंदन करना श्रेयस्कर है। चैत्यवंदनपरांत प्रणिधान अर्थात् संकल्प करना चाहिए, जिससे धर्मकार्य में प्रवृत्ति होती है, उसमें आने वाले विघ्नों पर विजय होती है और शुरु किए गए कार्य की निर्विघ्न सिद्धि सम्भव होती है। प्रणिधान को हम निदान नहीं कह सकते हैं, क्योंकि निदान में लौकिक उपलब्धियों की आकांक्षा होती है, जबकि प्रणिधान में मात्र आत्मविशुद्धि की इच्छा होती है। प्रणिधान (संकल्प) करने से ही नियमतः इष्ट कार्य की सिद्धि होती है। प्रणिधान से ही धार्मिक अनुष्ठान भावरूप बन जाते हैं। प्रणिधान की विधि कुछ इस प्रकार है- सिर से हाथों की अंजलि लगाकर आदरपूर्वक निम्न प्रणिधान करना चाहिए- हे वीतराग! हे जगद्गुरु! आपकी जय हो! हे भगवन्! आपके प्रभाव से मुझे भवनिर्वेद, मार्गानुसारिता, इष्टफलसिद्धि, लोक विरुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग, गुरुजन पूजा, परार्थकरणं, सुगुरु की प्राप्ति हो और जब तक मोक्ष नहीं मिले, तब तक निरंतर गुरु-आज्ञा के पालन का मनोभाव प्राप्त हो। इस प्रकार प्रार्थनागर्भित प्रणिधान तभी तक योग्य है जब तक भवनिर्वेद की प्राप्ति नहीं होती। भवनिर्वेदादि गुणों की उपलब्धि के बाद मांग करने को कुछ भी नहीं रह जाता है। यदि कोई जीव तीर्थकरों की समृद्धि देखकर या सुनकर उस समृद्धि को पाने की इच्छा से तीर्थकर बनने की प्रार्थना करता है तो वह राग-युक्त है, क्योंकि उसमें उपकार करने की नहीं, अपितु समृद्धि प्राप्त करने की भावना होती है, जिससे तीर्थकरत्व के बजाए पापकर्म बंध होता है, किंतु यह भी सच है कि लोकहित की भावना से तीर्थकर बनने की इच्छा वाला जीव तीर्थकर नामकर्म बांधकर अनेक जीवों का हितकारी बनता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो तीर्थकर बनने की अभिलाषा अर्थात्पत्ति से धर्मदेशनादि, अनुष्ठान से प्रवृत्तिरूप है, इसलिए वह दोषरहित है।

जहां तक पूजा करने में कथंचित् हिंसा की बात है, तो यह जान लेना भी आवश्यक है कि गृहस्थों के लिए जिनपूजा निर्दोष है, क्योंकि गृहस्थ कृषि आदि असदारम्भ में प्रवृत्ति करते हैं, जबकि जिनपूजा से वे उस असदारम्भ से निवृत्त होते हैं, अतः जिनपूजा निवृत्तिरूप फल है। यदि कोई यह सोचता है कि शरीर, घर, पुत्र, स्त्री आदि द्वारा जीव हिंसा में मेरी प्रवृत्ति है, इसलिए मैं जिनपूजा नहीं करूंगा, तो यह उसकी मूर्खता है। मोक्षाभिलाषी को प्रमादरहित भाव से आगमसम्मत विधि द्वारा भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा अवश्य करनी चाहिए। जिस प्रकार महासमुद्र में फेंकी गई जल की एक बूंद का भी नाश नहीं होता, उसी प्रकार जिनों के गुणरूपी समुद्र में पूजा अक्षय ही होती है। पूजा में पूज्य को कोई लाभ हो या न हो, लेकिन पूजक को अवश्य होता है। जिस प्रकार अग्नि आदि के सेवन से अग्नि को कोई लाभ प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार जिनेन्द्रदेव की पूजा करने से भले ही जिनेन्द्रदेव को कोई लाभ न हो, पर उनकी पूजा करने वाले को लाभ अवश्य होता है, अतः जिनेन्द्र की पूजा करनी चाहिए। पूजा करने से देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् के प्रति सम्मान जगता है, जिन, गणधर, चक्रवर्ती आदि उत्तम पदों की प्राप्ति होती है और उत्कृष्ट धर्म की प्रसिद्धि होती है।

पंचम पंचाशक

पंचम पंचाशक में 'प्रत्याख्यानविधि' का वर्णन किया गया है। प्रत्याख्यान, नियम और चारित्रधर्म समानार्थक हैं। प्रत्याख्यान का अर्थ है- 'आत्महित की दृष्टि से प्रतिकूल प्रवृत्ति के त्याग की मर्यादापूर्वक प्रतिज्ञा करना।' मूलगुण और उत्तरगुण के आधार पर इसके दो भेद होते हैं। साधु के महाव्रत और श्रावक के अणुव्रत मूलगुण प्रत्याख्यान हैं तथा पिण्ड विशुद्धि आदि गुण साधु के और दिग्विरति इत्यादि व्रत श्रावक के उत्तरगुण हैं। नवकार पोरसी, परिमुद्ध, एकासन, एकठाण, आयंबिल, अभत्त, अचित्त पानी आगार, चरिम, अभिग्रह तथा विकृति (विगय)- ये दस प्रत्याख्यान हैं, जो काल की मर्यादापूर्वक किए जाने के कारण कालिक प्रत्याख्यान कहलाते हैं। विधिपूर्वक ग्रहण, आगार, सामायिक, भेद, भोग, नियम-पालन और अनुबंध- ये सात द्वार हैं, जिनके आधार पर कालिक प्रत्याख्यान की विधि बताई गई है-

१. ग्रहणद्वार - उचित गुरु के पास उचित अवसर पर विनय एवं उपयोग से गुरु द्वारा बोले गए पाठ को स्वयं बोलते हुए ग्रहण करना ग्रहणद्वार कहलाता है।

२. आगारद्वार - आगार अर्थात् अपवाद या छूट। प्रत्याख्यान लेते समय अपवाद इसलिए रखे जाते हैं, ताकि विशेष परिस्थितिबश भंग का दोष न लगे आगारद्वार के अंतर्गत कालिक प्रत्याख्यान में प्रत्येक के लिए अलग-अलग अपवादों का उल्लेख होता है।

(क) नवकार - सूर्योदय होने के ४८ मिनट पश्चात् नवकार गिनकर पूर्ण हो जाने तक आहार का त्याग करना। सूर्योदय के बाद दो घड़ी पूर्ण होना और नवकार मंत्र गिनकर दोनोंको ही ग्रहण किया जाता है, तभी प्रत्याख्यान पूरा होता है।

(ख) पोरिसी (पौरुषी) - पुरुष के शरीर के बराबर छाया जिस समय हो, वह काल पौरुषी कहलाता है, अर्थात् सूर्योदय के बाद दिन का एक-चौथाई भाग सम्पन्न हो जाने पर पुरुष की छाया उसके शरीर की लम्बाई के बराबर हो जाती है, उसी समय को ही पौरुषी या प्रहर कहते हैं।

(ग) परिमुञ्च-अवञ्च - सूर्योदय से दोपहर तक आहार का त्याग करना परिमुञ्च प्रत्याख्यान एवं सूर्योदय से तीन प्रहर तक आहार का त्याग अवञ्च कहलाता है।

(घ) एकासन-बियासन - एक ही स्थान पर बैठकर एक ही बार भोजन करना एकासन कहलाता है और एक ही आसन पर बैठकर दो बार भोजन करना बियासन है।

(ङ.) एकठाण - एक ही स्थान पर बैठकर भोजन करना एकठाण होता है। इसमें मुंह और हाथ के अतिरिक्त कोई अंग नहीं हिलता है एवं चौविहारी होता है। वहीं एकासन में दूसरे अंग हिलते हैं तथा वह तिविहारी भी होता है।

(च) आर्यंबिल - भात, उड़द आदि के साथ मांड या खट्टारस उपयोग में लाना आर्यंबिल प्रत्याख्यान है।

(छ) अभक्तार्थ - जिसमें भोजन का कोई उपयोग नहीं होता है, वह उपवास प्रत्याख्यान है। उपवास तिविहार और चौविहार दोनों प्रकार का हो सकता है।

(ज) पानी का आगार - मुनियों को सदैव तथा गृहस्थों को एकासन, उपवास आदि में अचित्त पानी का ही प्रयोग करना चाहिए। अचित्त पानी का प्रयोग ही पानी का आगार कहलाता है।

(झ) चरिम - चरिम अर्थात् अंतिम। यह दिन और वर्तमान भव दोनों का हो सकता है। दिन के अंतिम भाग अर्थात् सूर्यास्त तक किया गया प्रत्याख्यान दिवस-चरिम

और जीवन के अंतिम समय में किया गया प्रत्याख्यान भव-चरिम कहलाता है।

(ज) अभिग्रह - विशेष प्रकार का नियम या प्रतिज्ञा लेना अभिग्रह प्रत्याख्यान कहलाता है।

(ट) विगय - विगय यानी विकृति उत्पन्न करने वाले आहार का त्याग करना प्रत्याख्यान है विगय दस हैं- दही, घी, दूध, तेल, गुड़, तली हुई वस्तुएं, मक्खन, मधु, मांस और मदिरा। इनमें से अंतिम चार विगय महाविगय हैं और अभक्ष्य भी हैं।

३. सामायिक द्वार - सामायिक में सभी पदार्थों पर समभाव होता है। मन, वचन और कायपूर्वक जीवनपर्यन्त सर्वसावद्य योग के त्याग रूप सामायिक का प्रत्याख्यान किया जाता है। सर्वसावद्ययोग के त्याग के कारण सामायिक में प्रत्येक प्रवृत्ति समभावपूर्वक होने से आगारों की आवश्यकता नहीं होती है।

४. भेद द्वार - ज्ञान आदि की सिद्धि के लिए आहार के चारों - अशन, पान, खादिम और स्वादिम- भेदों का ज्ञान होना चाहिए, जिससे आहार का प्रत्याख्यान किया जा सके।

५. भोगद्वार - शरीर की जब तीनों धातुएं- वात, पित्त और कफ सम हो जाएं, तभी शांतचित्त होकर भोजन करना चाहिए। भोजन से पूर्व जो भी क्रियाएं करने का प्रत्याख्यान किया है, उसको करके, बड़ों की आज्ञा लेकर ही भोजन करना चाहिए।

६. स्वयंपालन द्वार- आहार प्रत्याख्यान ग्रहण करके स्वयं उसका पालन करना और दूसरों को आहार देने व अन्य साधुओं को कहां से आहार मिलेगा, इन सब बातों को बताना चाहिए। साधुओं की बीमारी में सेवा करना, उनके लिए कल्प्य आहार लाना आदि कार्य करने चाहिए। ठीक इसी प्रकार श्रावकों को भी यथा सामर्थ्य दान देना चाहिए। यदि सामर्थ्य न हो तो दान देने वाले श्रद्धालुओं के घर बताना व बिना भेदभाव के सभी को समान रूप में दान देना चाहिए।

७. अनुबंध द्वार - मानसिक और शारीरिक उदासीनता से रहित होकर जो उचित प्रयत्न करता है, उसके प्रत्याख्यान में अनुबंध का भाव होता है। गुरु की आज्ञा के अनुरूप कार्यों से अलग कार्य करने पर भी प्रत्याख्यान होता है। गुरु द्वारा कहा गया कार्य ही प्रमुख होता है।

जो वस्तु व्यक्ति के पास नहीं है, उसका प्रत्याख्यान भी लाभप्रद ही होता है, क्योंकि ऐसा नहीं होता है कि जो वस्तु वर्तमान में नहीं है, वह भविष्य में भी प्राप्त नहीं होगी।

अतः इस बात को ध्यान में रखकर ही प्रत्याख्यान करना चाहिए। भवविरह की इच्छा वाले जीव का विद्यमान या अविद्यमान सम्बंधी सभी वस्तुओं का प्रत्याख्यान सफल होता है, क्योंकि वह मोक्ष की अभिलाषा से उन सबका प्रत्याख्यान करता है।

षष्ठ पंचाशक

षष्ठ पंचाशक में हरिभद्र ने स्तुति या 'स्तवनविधि' का वर्णन किया है। द्रव्य और भाव की दृष्टि से स्तवन भी दो प्रकार का होता है। शास्त्रोक्त-विधिपूर्वक जिनमंदिर का निर्माण, जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा, तीर्थों की यात्रा, जिनप्रतिमाओं की पूजा करना आदि द्रव्यस्तव हैं तथा मन, वचन और कर्म से विरक्त भाव या वीतरागता की उपासना करना भावस्तव है। द्रव्यस्तव भावस्तव का निमित्त कारण माना जाता है, जिनमंदिर का निर्माण एवं जिनेन्द्रदेव की पूजा आदि से भाव-विशुद्धि होती है, फलतः वे भावस्तव के निमित्त कारण हैं। द्रव्यस्तव न केवल भावस्तव का निमित्त कारण है, बल्कि आप्तवचनों के पालन और उनके प्रति आदर भावरूप होने से भावस्तव भी है। औचित्यरहित आदरभाव से सर्वथा शून्य अनुष्ठान भले ही वह जिनेन्द्रदेव से सम्बंधित क्यों न हो, द्रव्यस्तव भी नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि आस्था शून्य अनुष्ठानों का कोई मूल्य नहीं होता है। यदि आप्तवचन के विपरीत अनुष्ठानों को द्रव्यस्तव की संज्ञा दी जाती है, तो आप्तवचन के विपरीत हिंसादि क्रियाएं सभी द्रव्यस्तव के अंतर्गत आ जाएंगी। अतः जो अनुष्ठान भावस्तव का कारण न बने वह अनुष्ठान द्रव्यस्तव नहीं है, क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि जिसमें भावरूप में परिणित होने की योग्यता हो उसे 'द्रव्य' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। जैसे मिट्टी का पिण्ड द्रव्य है, क्योंकि उसमें घट बनने की योग्यता है, किंतु इसका यह अर्थ भी नहीं समझ लेना चाहिए कि द्रव्य का प्रयोग एकमात्र योग्यता के ही अर्थ में होता है, कभी-कभी उसका प्रयोग अयोग्यता के अर्थ में भी देखा जाता है, जैसे- अंगारमर्दक आचार्य मुक्ति की योग्यता से रहित होने के कारण जीवनभर द्रव्याचार्य ही रहे। फलतः द्रव्यस्तव भी दो प्रकार का होता है- प्रधान और अप्रधान। जो भावस्तव का हेतु है वह प्रधान द्रव्यस्तव है और जो भावस्तव का हेतु बनने की योग्यता नहीं रखता है, वह अप्रधान द्रव्य स्तव्य है। फिर भी हरिभद्र यह मानते हैं कि अप्रधान द्रव्यस्तव से भी अल्पकाल की प्राप्ति होती है, क्योंकि वीतराग भगवान् विषयक कोई भी अनुष्ठान चाहे वह जिनाज्ञा के अनुरूप न हो तो भी सर्वथा निष्फल नहीं जाता है। वह भी मनोज्ञ फल देता है, चाहे वह अल्प ही क्यों न हो। क्योंकि जो फल दूसरे कारणों से मिलता है, वही फल वीतराग

सम्बंधी अनुष्ठान से मिले, तो फिर वीतराग सम्बंधी अनुष्ठान की विशेषता ही क्या रह जाएगी?

यहां यह प्रश्न भी उठ सकता है कि 'यदि भावस्तव का कारण नहीं बनने वाले अनुष्ठान द्रव्यस्तव हैं', यह बात मान ली जाती है, तो फिर भावस्तव का कारण बनने वाले जिनभवन-निर्माण आदि अनुष्ठानों को भाव-स्तव क्यों नहीं माना जाता? ये अनुष्ठान भी आपकथित होने के कारण साधुओं की ग्लान-सेवा, स्वाध्याय आदि कार्यों के समान होते हैं और साधुओं के उपर्युक्त कार्य आगम में भावस्तव कहे जाते हैं। इसके उत्तर में हरिभद्र कहते हैं कि साधुओं के उपर्युक्त कार्यों से होने वाले शुभ अध्यवसाय की अपेक्षा जिनभवन-निर्माण आदि अनुष्ठानों से होने वाले शुभ अध्यवसाय कम होते हैं, क्योंकि उनमें आंशिक रूप से आरम्भ भी होता है। इसलिए वे द्रव्यस्तव ही हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि साधुओं का कार्य आसक्ति आदि कलुषित भावों एवं हिंसा आदि पापकर्मों से सर्वथा रहित तथा आगम में प्रणीत महाव्रतादि में प्रवृत्तिरूप होने से सर्वथा शुद्ध ही होता है। इसलिए साधु का क्रिया-व्यापार सर्वथा निर्दोष माना जाता है, जबकि परिग्रह और आरम्भ से युक्त गृहस्थों का क्रिया-व्यापार अल्पशुद्ध होता है। इसलिए वह द्रव्यस्तव ही है।

द्रव्यस्तव बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा रखने वाला होने के कारण कड़वी औषधि के समान दीर्घकालीन भवरोग को उपशमित करने वाला है, जबकि भावस्तव औषधि के बिना ही पथ्य मात्र से उस भवरोग को निर्मूल करने में सक्षम है। द्रव्यस्तव से पुण्यानुबंधी पुण्यकर्म का बंध होता है, उसके उदय से सुगति आदि मिलती है और परम्परा से थोड़े समय के बाद भावस्तव का योग भी मिलता है। द्रव्यस्तव और भावस्तव में यह भेद होते हुए भी दोनों एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, क्योंकि द्रव्यस्तव का अधिकारी गृहस्थ होता है और भावस्तव का साधु, किंतु गौण रूप से गृहस्थ को भी भावस्तव होता है और साधु को भी द्रव्यस्तव होता है। जिस प्रकार जिन-भवन आदि निर्माण भगवान् को अभिमत हैं, उसी प्रकार साधुओं को जिन-बिम्ब दर्शन आदि सम्बंधी द्रव्यस्तव अनुमोदनीय हैं। आगम में इसके प्रमाण उपलब्ध होते हैं। साधु के लिए भी अपनी मर्यादानुकूल द्रव्यस्तव संगत है, क्योंकि चैत्यवन्दन आदि में सूत्रपाठ के उच्चारण के रूप में द्रव्यस्तव न हो तो वह निरर्थक होता है, क्योंकि आगम में सूत्रपाठ के उच्चारण के बिना वंदना नहीं कही गई है। इसलिए साधु भी स्तवन-पाठरूप द्रव्यस्तव करें, यह शास्त्रसम्मत है, किंतु मुनियों के लिए जो

अहिंसादि महाव्रतों का पूर्णतः पालन करते हैं, द्रव्यपूजा रूप साक्षात् द्रव्यस्तव का विधान नहीं है, क्योंकि मुनियों में भाव को ही प्रधानता मानी गई है। इसलिए मुनियों के लिए भाव से ही पूजा करना उपयुक्त है, क्योंकि पुष्प, दीप, धूप आदि द्रव्यस्तव हैं और इसमें आरम्भ (हिंसा) होने से साधुओं के लिए इनका निषेध किया गया है। लेकिन वे दूसरों से ऐसा द्रव्यस्तव करवा सकते हैं। तात्पर्य यह कि साधुओं को पुष्पादि से स्वयं पूजा करने का निषेध है, किंतु दूसरों से करवाने का निषेध नहीं है। सही मायने में देखा जाए, तो जिस प्रकार साधु का भावस्तव द्रव्यस्तव से युक्त है, उसी प्रकार योग्य गृहस्थ का द्रव्यस्तव भी भावस्तव से युक्त है, ऐसा जिनवचन है। कोई भी द्रव्यस्तव भगवान् के प्रति बहुमानरूप भाव से युक्त होता है अर्थात् द्रव्यस्तव से उत्पन्न होने वाला यह भाव ही भावस्तव बन जाता है। इस प्रकार द्रव्यस्तव को भी भाव से युक्त होने के कारण भावस्तव कहा जा सकता है। द्रव्यस्तव रूप चैत्यवन्दन, स्तुति, पूजा आदि से अंशतः शुभभाव अवश्य होता है। चूँकि भगवान् महनीय गुणों से युक्त हैं, इसलिए वे द्रव्यस्तव के योग्य हैं- इसे अच्छी तरह जानकर जो जीव विधिपूर्वक द्रव्यस्तव में प्रवृत्ति करते हैं, उनकी आंशिक भाव-विशुद्धि अनुभवसिद्ध है, यह भावविशुद्धि जिनगुणों में अनुमोदन से होती है। इस प्रकार द्रव्यस्तव और भावस्तव पृथक् होते हुए भी अभिन्न हैं। इसलिए साधुओं और श्रावकों को द्रव्यस्तव और भावस्तव दोनों करना चाहिए।

सप्तम पंचाशक

हरिभद्र ने सातवें पंचाशक में 'जिनभवन-निर्माणविधि' का वर्णन किया है। जिनभवन-निर्माण के लिए निर्माता की कुछ योग्यताएं आवश्यक हैं। हरिभद्र के अनुसार जिनभवन-निर्माण कराने का अधिकारी वही व्यक्ति है जो गृहस्थ हो, शुभभाव वाला हो, जिनधर्म पर श्रद्धा रखता हो, समृद्ध हो, कुलीन हो, कंजूस न हो, धैर्यवान हो, बुद्धिमान हो, धर्मानुरागी हो, देव, गुरु और धर्म की भक्ति करने में तत्पर हो और शुश्रूषादि आठ गुणों से युक्त हो। साथ ही आगमानुसार जिनभवन के निर्माण-विधि का ज्ञाता हो। अपने तथा दूसरों के हित के लिए जिनमंदिर बनवाने वाले निर्माता में उक्त गुणों का होना आवश्यक है, क्योंकि अयोग्य व्यक्ति जिनभवन का निर्माण करवाएगा तो जिनाज्ञा का भंग होने से दोष का भागी होगा। योग्य व्यक्ति को जिनभवन का निर्माण करवाते देखकर कुछ गुणानुरागी मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं, तो दूसरे गुणानुरागरूप शुभपरिणाम से मोक्षप्राप्ति के लिए बीजस्वरूप सम्यग् दर्शन आदि को प्राप्त करते हैं। सर्वज्ञ देव द्वारा स्वीकृत जिनशासन के

प्रति जो शुभभाव हैं, वह शुभभाव सम्यग्दर्शन का हेतु बनते हैं। अतः जिन-मंदिर के निर्माण में कम से कम द्रोष लगे, ऐसी सावधानी रखनी चाहिए। इस सम्बंध में हरिभद्र ने पांच द्वारों का निर्देश किया है-

१. भूमिशुद्धिद्वार - भूमिशुद्धि दो प्रकार से होती है- द्रव्य और भाव। किसी भूमि या क्षेत्र का सदाचारी लोगों के रहने लायक होना तथा काटे, हड्डियां आदि से रहित होना द्रव्यशुद्धि है और वहां जिनभवन बनवाने में दूसरे लोगों को कोई आपत्ति न होना यह भावशुद्धि है। अयोग्य क्षेत्र में जिनमंदिर-निर्माण से जिनमंदिर की न तो वृद्धि होती है और न ही वहां साधु आते हैं। यदि कभी आते भी हैं, तो उनके आचार का नाश होता है, फलतः जिनशासन की निंदा होती है। अतः सदैव योग्य क्षेत्र में ही जिन-मंदिर बनवाना चाहिए।

२. दलविशुद्धिद्वार - दल सामग्री को कहते हैं। जिनमंदिर-निर्माण के लिए काष्ठ, पत्थर आदि का शुद्ध होना भी आवश्यक है। काष्ठादि खरीदते समय होने वाले शकून और अपशकून सामग्री की शुद्धि-अशुद्धि जानने के उपाय हैं।

३. भूतकानतिसन्धानद्वार - जिनमंदिर-निर्माण सम्बंधी कोई भी कार्य कराते समय मजदूरों का शोषण नहीं करना चाहिए। अधिक मजदूरी देने से वे प्रसन्न होकर अधिक कार्य करते हैं। इससे जिनशासन की प्रशंसा होती है, फलतः कुछ लोग जिनशासन के प्रति आकर्षित होकर बोधिबीज अर्थात् सम्यग्दर्शन को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार जिनशासन की प्रभावना होती है।

४. स्वाशयवृद्धिद्वार- जिनभवन-निर्माण के समय जिनेन्द्रदेव के गुणों का यथार्थ ज्ञान एवं जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा के लिए की गई प्रवृत्ति से होने वाला शुभ परिणाम स्वाशयवृद्धि है।

५. यतनाद्वार- जिनभवन के निर्माण हेतु लकड़ी लाना, भूमि खोदना कार्यों में जीव-हिंसा न हो या कम से कम हो, इसके लिए सावधानी रखनी चाहिए, क्योंकि जीवरक्षा ही धर्म का सार है। यतना धर्म के पालन के लिए आवश्यक है, क्योंकि भगवान् ने यतना में ही धर्म बताया है। यतना प्रवृत्तिरूप होने पर भी निवृत्तिमार्ग की साधक है, क्योंकि यतना से आरम्भादिक हिंसा अल्पतम होती है और इससे अनेक दोष दूर हो जाते हैं, इसी कारण यह यतना परमार्थ से निवृत्तिप्रधान ही है।

इस प्रकार भूमि-शुद्धि आदि में विधिपूर्वक सावधानी रखने वाले व्यक्ति की

जिनमंदिर-निर्माण सम्बंधी प्रवृत्तियों की जीवहिंसा होने पर भी वह पापरूप नहीं होती है, अतः परमार्थ से तो वह अहिंसा ही है। इसी प्रकार जिनपूजा, जिनमहोत्सव आदि सम्बंधी प्रवृत्तियों में अल्पतम हिंसा होते हुए भी वे अधिक जीवहिंसा से निवृत्ति कराने वाली होने के कारण परमार्थ से अहिंसक ही मानी जाती हैं। अतः श्रावक को मुक्ति न मिलने तक देवगति और मनुष्यगति में अभ्युदय और कल्याण की सतत् परम्परा को बनाए रखने हेतु जिनभवन का निर्माण करवाना चाहिए, क्योंकि अन्ततः उससे मोक्ष मिलता है।

जिनभवन में जिनबिम्बप्रतिष्ठा के भाव से उपार्जित पुण्यानुबंधी पुण्य के फल से जीव को सदा देवलोक आदि सुगति की ही प्राप्ति होती है, अर्थात् जब तक मोक्ष न मिले तब तक वह देवलोक या मनुष्यलोक में ही उत्पन्न होता है। जिनभवन के निमित्त साधुओं का आगमन हो तो स्वाभाविक रूप से गुणानुराग होता है और नए-नए गुणों का प्रकटन होता है। जिन-भवन से दूसरे लोग भी प्रतिबोध को प्राप्त करते हैं, जो धन जिनमंदिर में लग रहा है वही मेरा है, ऐसे शुभभाव से उपार्जित शुभकर्म के विपाक से जीव स्वीकृत चरित्र का अंत तक निर्वाह करता है। मृत्युपर्यंत विधिपूर्वक संयम का पालन करना निश्चयनय से चारित्राराधना है। इसकी आराधना करने वाले जीव सात या आठ भवों से जन्म-मरणादि से युक्त होकर शाश्वत सुखवाले मोक्षपद को प्राप्त करते हैं।

अष्टम पंचाशक

हरिभद्र ने आठवें पंचाशक में 'जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधि' का वर्णन किया है। यह विधि दो भागों में विभक्त है- (१) जिनबिम्ब-निर्माण की विधि तथा (२) जिनबिम्ब-प्रतिष्ठाविधि। भगवान् जिन के वीतरागतां, तीर्थप्रवर्तन आदि गुणों को गुरु के द्वारा सुनने और जानने के पश्चात् व्यक्ति यह सोचता है कि भगवान् जिनेंद्रदेव अतिशय गुण सम्पन्न होते हैं, उनके बिम्ब का दर्शन करना कल्याणकारी होता है, उनके प्रति शुभभाव रखने से शुभ-कर्मों का अनुबंध होता है। अतः जिनबिम्ब बनवाना मनुष्य का कर्तव्य है और यही मनुष्य जन्म की सार्थकता है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार जिनबिम्ब निर्माण करवाने वाले के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी निर्दोष चरित्र वाले शिल्पी से ही बिम्ब का निर्माण करवाए और उसे पर्याप्त पारिश्रमिक दें। यदि निर्दोष चरित्र वाला शिल्पी नहीं मिलता है और दूषित चरित्र वाले शिल्पकार से जिनबिम्ब का निर्माण करवाना पड़े, तो उसका पारिश्रमिक पूर्व ही निर्धारित कर देना चाहिए। उसे वह धनराशि भी अनाज आदि के रूप में दें, ताकि वह उसे पापकर्म में खर्च न कर सके। यदि ऐसा नहीं होता है तो दूषित

चरित्रवाला शिल्पी उस धनराशि से पापरूप प्रवृत्तियों में संलग्न रहता है और फलतः अनन्त भवभ्रमण करते हुए उस निमित्त दारुण दुःख को भोगता है। इसलिए ऐसे शिल्पी को खाद्यान्न आदि के रूप में पारिश्रमिक निर्धारित किए बिना नियुक्त नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार किसी अत्यंत बीमार व्यक्ति को अपथ्य भोजन देना उचित नहीं है, उसी प्रकार भली-भांति विचारकर जो कार्य का परिणाम किसी के लिए दारुण दुःख का कारण हो, वह करणीय नहीं होता। अतः जिन-आज्ञानुसार कार्य करना सराहनीय होता है। यदि अज्ञानवश कभी भूल से आज्ञा के विपरीत कार्य हो भी जाता है तो करने वाला दोषी नहीं समझा जाता है, क्योंकि वह आज्ञा का आराधक होता है और उसका परिणाम शुद्ध होता है। आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाले को तीर्थंकर के प्रति बहुमान होता है और तीर्थंकर के प्रति बहुमान होने के कारण उसके परिणाम (मनोभाव) शुद्ध होते हैं। साधु या श्रावक से सम्बंधित कोई भी प्रवृत्ति यदि अपनी मति के अनुसार की जाती है, तो वह आज्ञारहित होने से संसार का निमित्त होती है। अतः मोक्षाभिलाषी को जिन की आज्ञानुसार ही प्रयत्न या पुरुषार्थ करना चाहिए।

इस प्रकार भलीभांति निर्मित जिनबिम्ब की शुभ मुहूर्त में चन्दनादि का विलेपन करके मांगलिक गीतों के बीच विधिपूर्वक स्थापना करनी चाहिए, उसके चारों ओर स्वर्ण-मुद्रा, रत्न तथा जल से परिपूर्ण चार कलश, जिनमें पुष्प और कच्चे धागे बंधे हों, रखकर बिम्ब के समक्ष गन्ने के टुकड़े, मिष्ठान्न, जौ, चंदन आदि का स्वस्तिक बनाकर घी, गुड़ आदि से युक्त मंगल दीप प्रज्वलित करना चाहिए। इतनी क्रिया हो जाने के पश्चात् प्रतिमा के हाथ में मांगलिक कंकन बांधकर उत्तम वस्त्र धारण कराकर अधिवासित जिनबिम्ब का चार पवित्र नारियों द्वारा प्रोंखन करना चाहिए। यह कहा जाता है कि प्रोंखन करने वाली स्त्रियों को कभी भी वैधव्य और दारिद्र्य प्राप्त नहीं होता है। अधिवासन के समय चंदन, कपूर, पुष्प, नारियल आदि उत्तम द्रव्यों, वस्त्र, आभूषण आदि विधि प्रकार के उपहारों और भक्तिभावपरक उत्तम रचनाओं से जिनेंद्रदेव के वैभव को प्रकट करके जिनबिम्ब की उत्कृष्ट पूजा करनी चाहिए। उत्कृष्ट पूजा (मूलमंगल) के पश्चात् चैत्यवंदन करना चाहिए। वर्धमान-स्तुति बोलने के पश्चात् शासनदेवियों की आराधना के लिए एकाग्रचित्त होकर कायोत्सर्ग करना चाहिए, फिर मंगलोच्चारणपूर्वक जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। जिनबिम्ब की यह प्रतिष्ठा सूर्य-चंद्र की प्रतिष्ठा की ही भांति शाश्वत है। प्रतिष्ठोपरांत आशीर्वाद के लिए सिद्धों की स्तुति रूप उनकी अनेक उपमाओं वाली मंगलगाथाएं बोलनी चाहिए। इन मंगलगाथाओं को बोलने से इष्ट की सिद्धि होती है। मंगलगाथाएं

बोली जाएं इसे लेकर विद्वानों में मतवैभिन्य है। कुछ आचार्यों का कहना है कि ये मंगलगाथाएं पूर्णकलश, मंगलदीप आदि रखते समय बोली जानी चाहिए, तो कुछ आचार्यों का कथन है कि परमार्थ से जिनेंद्रदेव ही मंगलरूप हैं, इसलिए प्रत्येक कार्य करने से पूर्व भावपूर्वक जिनेंद्रदेव की स्तुतिरूप मंगलगाथाओं का पाठ करना चाहिए।

जिनबिम्ब की पूजा के उपरांत संघ की पूजा करने का विधान है, क्योंकि शास्त्रों में ऐसा वर्णन आया है कि तीर्थंकर के बाद पूज्य के रूप में संघ का स्थान है। आगमों में तीर्थंकर द्वारा संघ को नमस्कार करने के उल्लेख मिलते हैं। संघपूजा में सभी पूज्यों की पूजा हो जाती है। यहां संघ का अभिप्राय साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका के समूह रूप संघ से नहीं है, अपितु उनके गुण समूह रूप संघ से है। यही कारण है कि तीर्थंकर भी देशना के पहले 'नमो तित्थस्स' कहकर गुरुभाव से संघ को नमस्कार करते हैं। इस तरह बिना किसी भेदभाव के गुणों के निधानरूप संघ की पूजा करनी चाहिए। संघ-पूजा सर्व दानों में महादान है। यही गृहस्थ धर्म का सार है और यही सम्पत्ति का सदुपयोग है। संघ-पूजा का मुख्य फल तो मोक्ष ही है, किंतु उससे देव और मनुष्य शुभगतिरूप आनुषंगिक फल की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा के पश्चात् भी-स्वजनों और सहधर्मियों के प्रति उत्तम वात्सल्यभाव रखना चाहिए। प्रतिष्ठा के अवसर पर शुद्धभाव से आठ दिनों तक महोत्सव करना चाहिए, किंतु कुछ आचार्यों का कहना है कि यह महोत्सव तीन दिन तक करना चाहिए। तदुपरांत प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधि से चैत्यवंदन, स्नात्र-पूजा आदि करनी चाहिए, जिससे भव-विरह अर्थात् संसार से मुक्ति प्राप्त हो।

नवम पंचाशक

नवें पंचाशक में हरिभद्र ने 'यात्राविधि' का वर्णन किया है। यहां यात्रा से अभिप्राय मोक्षरूपी फल प्रदाता जिन की शोभायात्रा से है। जिन की शोभायात्रा वह महोत्सव है, जो जिन को उद्दिष्ट करके किया जाता है। जिन की उपासना का आधार सम्यक् दर्शन है और निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहणा, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना - ये आठ आचार (भेद) बताए गए हैं। इनमें भी प्रभावना प्रधान है, क्योंकि जो निःशंकित आदि गुणों से युक्त है, वही जिनशासन की प्रभावना कर सकता है। जिन-यात्रा जिनशासन की प्रभावना के निमित्त किया गया है, जो एक विशिष्ट महोत्सव है। दान,

तप, शरीर-शोभा, उचित गीतवाद्य, स्तुति-स्तोत्र, प्रेक्षणक आदि इसके छः द्वार हैं, जिनका यथाशक्ति पालन करना चाहिए। जिनयात्रा सम्बन्धी इन छः क्रियाओं के लिए यह आवश्यक है कि इस हेतु सर्वप्रथम राजाज्ञा-प्राप्त की जाए, बिना राजा की आज्ञा के उसके आदेश में जिन की शोभायात्रा निकालना उचित नहीं है। राजा के उसके भूभाग में इनके करने हेतु अनुमति प्राप्त करना आगम सम्मत है। इससे उस देश में विचरण करने वाले साधुओं को निम्नांकित लाभ होते हैं-

(१) तीसरे महाव्रत का निरतिचार पालन होता है और जिनाज्ञा की आराधना होने से कर्मों की निर्जरा होती है, (२) इन कार्यों में शत्रु के उपद्रव आदि का भय नहीं रहता है, (३) राजा के द्वारा साधु का सम्मान होने से लोक में भी उस साधु का सम्मान होता है, अतः साधु को राजा के पास जाकर जैन शासन से अवरुद्ध उसके विनय, दाक्षिण्य और सज्जनता आदि गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए तथा कहना चाहिए- हे श्रेष्ठ पुरुष! मनुष्य के रूप में तो सभी मनुष्य समान होते हैं, फिर भी आपने विशिष्ट पुण्यकर्म से मनुष्यों के राजा बनने का सौभाग्य प्राप्त किया है। मनुष्य और देवलोक सम्बन्धी सभी सम्प्रदाओं की उपलब्धि का कारण धर्म है और धर्म ही संसार-रूपी समुद्र को पार कराने वाला जहाज है। अतः आप धर्मकाय में सहयोगी बनें। साधु के इस प्रकार के वचन से प्रभावित हो राजा उस महोत्सव के प्रसंग में या सर्वदा के लिए जीवहिंसादि का निवारण करता है। इस प्रकार जिनेन्द्रदेव की यात्रा के अवसर पर राजाज्ञा से अथवा धनादि देकर भी हिंसादि कार्य रुकवाने का प्रयत्न करना चाहिए। संघ क्त्रे राजा से मिलकर हिंसा बंद करवाने वाले आचार्य या श्रावकों का अंतःकरण से सम्मान करना चाहिए। उन महापुरुषों के सम्मान से गुणों की अनुमोदना होती है और हिंसा निवारणरूप विशेष भाव होने से कर्मक्षय होते हैं।

जैनधर्म में तीर्थकरों के पांच कल्याणक दिवस माने गए हैं- (१) तीर्थकरों का गर्भ में आगमन, (२) उनका जन्म, (३) अभिनिष्क्रमण, (४) केवलज्ञान और (५) मोक्षप्राप्ति। इन कल्याणकों के दिनों में जिन की शोभायात्रा निकालना श्रेयस्कर माना जाता है। इन दिनों में जिन-यात्रा करने से निम्न लाभ होते हैं-

(१) तीर्थकर का लोक में सम्मान होता है, (२) देव, इंद्र आदि द्वारा निर्वाहित परम्परा का अनुमोदन होता है, (४) जिनमहोत्सव गम्भीर सहेतुक हैं- ऐसी लोक में प्रसिद्धि होती है, (५) जिनशासन की प्रभावना होती है और (६) जिनयात्रा में भाग लेने से विशुद्ध मार्गानुसारी गुणों के पालन सम्बन्धी अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं। विशुद्ध मार्गानुसारी

गुणों के पालन से सभी वांछित कर्मों की सिद्धि होती है। अर्हंतों ने विशुद्ध मार्गानुसारी भाव को सकल वांछित कार्यों की सिद्धि का सफल हेतु कहा है। कल्याणक दिवसों में जिनमहोत्सव करने से तीर्थंकर का लोक में अति सम्मान होता है। इसलिए इन दिनों में जिनबिम्ब से युक्त रथ, शिबिका आदि महोत्सवपूर्वक नगर में घुमानी चाहिए। यह एक उत्कृष्ट क्रिया है, जिसे कल्याणक के दिनों में इंद्रादि देवों ने भी किया है। इसलिए दुर्लभ मनुष्ययोनि पाने के बाद कल्याणक के दिनों में जिनयात्रा अवश्य निकालनी चाहिए। शास्त्रवचन एवं पूर्वजों की परम्परा का अनुसरण न करना उनका अपमान करना है। अतः श्रद्धालु एवं सज्जन मनुष्यों को गुरुमुख से जिनयात्रा महोत्सवविधि को जानकर जिनयात्राओं का आयोजन करना चाहिए।

दशम पंचाशक

दसवें पंचाशक में 'उपासक प्रतिमाविधि' का वर्णन किया गया है। दशाश्रुतस्कंध में आचार्य भद्रबाहु ने निम्न ग्यारह प्रतिमाएं बताई हैं- दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषध, नियम, अब्रह्मवर्जन, सचित्तवर्जन, आरम्भवर्जन, प्रेष्यवर्जन, उद्दिष्टवर्जन और श्रमणभूता। आचार्य हरिभद्र ने प्रतिमाओं के स्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

दर्शनप्रतिमा - सम्यग्दर्शनक के पालन करने को दर्शनप्रतिमा कहते हैं। इस अवस्था में मिथ्यात्व का क्षयोपशम हो जाने से व्यक्ति में दुराग्रह या कदाग्रह नहीं होता है। यह आस्तिक्य, अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और प्रशम - इन पांच गुणों से युक्त तथा शुभानुबंध से युक्त और शंकादि अतिचारों से रहित होती है।

व्रतप्रतिमा - इस प्रतिमा में श्रावक स्थूल-प्राणातिपातविरमण आदि पांच अणुव्रतों का सम्यक् रूप से पालन करता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद आयुष्यकर्म को छोड़कर शेष कर्मों की जितनी स्थिति है, उनमें से दो से नौ पल्योपम जितनी शेष रह जाने पर अणुव्रतों की प्राप्ति होती है। पांच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करना ही व्रत प्रतिमा है।

सामायिकप्रतिमा - सावद्ययोग का त्याग कर समभाव की साधना करना सामायिक है। यह सामायिक व्रत श्रावक द्वारा मुहूर्त आदि की एक निर्धारित समयावधि के लिए किया जाता है। सामायिक करते समय श्रावक साधु के समान ही समभावपूर्वक जीवन जीता है।

पौषधप्रतिमा - जिनदेव द्वारा प्राप्त विधि के अनुसार आहार, देह, संस्कार,

अब्रह्मचर्य एवं सांसारिक आरम्भ-समारम्भ का त्याग ही पोषध कहलाता है। इन चारों के त्याग से धर्म की वृद्धि होती है।

कायोत्सर्गप्रतिमा - उपर्युक्त चारों प्रतिमाओं की साधना करते हुए श्रावक को अष्टमी व चतुर्दशी के दिन कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग में कषायविजेता और त्रिलोकपूज्य जिनों का ध्यान या अपने रागादि दोषों की आलोचना करनी चाहिए।

अब्रह्मवर्जनप्रतिमा - उपर्युक्त पांचों प्रतिमाओं से युक्त श्रावक द्वारा अविचल चित्त होकर काम-वासना का पूर्णतया त्याग कर देना अब्रह्मवर्जन प्रतिमा है।

सचित्तवर्जनप्रतिमा - इसमें श्रावक अशन, पान, खादिम और स्वादिम रूप चारों प्रकार के सचित्त भोजन का त्याग करता है।

आरम्भवर्जनप्रतिमा - इस प्रतिमा में श्रावक खेती आदि वे सभी कार्य जिनमें हिंसा होती है, स्वयं छोड़ देता है, लेकिन नौकरों से करवाता है। इससे उसके स्वयं द्वारा की जाने वाली हिंसा कम हो जाती है, जो उसके लिए लाभदायक होती है।

प्रेष्यवर्जनप्रतिमा - इसमें श्रावक खेती आदि आरम्भ नौकरों से भी नहीं करवाता है। वह सारी जिम्मेदारियां अपने पुत्र, पारिवारिकजनों आदि पर छोड़ देता है। न तो वह स्वयं हिंसादि पापकर्म करता है और न अन्य से करवाता है। वह धन-धान्यादि के प्रति भी ममत्व नहीं रखता है। मात्र परिजनों द्वारा पूछे जाने पर योग्य सलाह दे देता है।

उद्दिष्टवर्जनप्रतिमा - इसमें श्रावक अपने लिए बने हुए भोजन आदि का भी त्याग कर देता है। मात्र परिजनों के यहां जाकर निर्दोष भोजन ग्रहण कर लेता है।

श्रमणभूतप्रतिमा - इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक मुण्डित होकर साधु के समान सभी उपकरण लेकर भिक्षावृत्ति से जीवनयापन करता है।

इन प्रतिमाओं के आचरण से श्रावक की आत्मा भावित होती है, जो श्रावक इन प्रतिमाओं का सम्यक् रूप से पालन कर लेता है, वह प्रब्रज्या के योग्य बन जाता है। इस प्रकार अपनी योग्यता का परीक्षण करके ली गई दीक्षा परिपूर्ण दीक्षा कहलाती है। सम्यग्ज्ञान होने पर जिन कारणों से संसार से विरक्ति होती है, उन्हीं से मोक्षमार्ग के प्रति प्रशस्त अनुराग उत्पन्न होता है।

आचार्य हरिभद्र के अनुसार जो प्रशस्त मन वाला है, वही श्रमण है। सद्गुण सम्पन्न, मान-अपमान आदि में समभावपूर्ण व्यवहार करने वाला श्रमण कहलाता है।

चारित्र के प्रति निष्ठावान शुद्ध अध्यवसाय वाला जीव ही श्रमणत्व को प्राप्त कर सकता है। यद्यपि ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से अल्प वय वाला भी प्रब्रज्या के योग्य बन जाता है, तथापि उसको भी उसी प्रकार दीक्षा दी जाती है, जिस प्रकार प्रतिमा का पालन करने वाले को। फिर भी भव-विरह अर्थात् मुक्ति के इच्छुक सामान्यजनों को इन प्रतिमाओं का पूर्णतया पालन करने के बाद ही दीक्षा लेनी चाहिए।

एकादश पंचाशक

ग्यारहवें पंचाशक में 'साधुधर्मविधि' का वर्णन है। जो चारित्रयुक्त होता है, वही साधु है। देशचारित्र और सर्वचारित्र के भेद से चारित्र दो प्रकार का है। देशचारित्र से युक्त गृहस्थ व सर्वचारित्र से युक्त साधु होता है। सर्वविरति चारित्र के पांच प्रकार हैं - सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात।

१. सामायिक - रागद्वेषादि से रहित समताभाव ही सामायिक है। इत्वर अर्थात् अल्पकालिक और यावत्कथित अर्थात् जीवनपर्यंत के भेद से सामायिक दो प्रकार का है।

२. छेदोपस्थापन - पूर्व दीक्षापर्याय का छेद करके महाव्रतों में उपस्थापन या आरोपण करना ही छेदोपस्थापन चारित्र कहलाता है। सातिचार और निरतिचार के भेद से इसके भी दो प्रकार हैं।

३. परिहारविशुद्धि - परिहार तप से आत्मविशुद्धि करना परिहार-विशुद्धि चारित्र है। निर्विशमानक और निर्विष्टकायिक के भेद से इसके भी दो प्रकार हैं।

४. सूक्ष्मसम्पराय - जिससे संसार-भ्रमण होता हो वह सम्पराय है। कषाय ही संसार-भ्रमण का कारण है, अतः कषाय को सम्पराय कहते हैं। कषायों के अत्यंत सूक्ष्म होने पर सूक्ष्मसम्पराय चारित्र होता है। इसके विशुद्धमान एवं क्लिश्यमान- ऐसे दो भेद हैं।

५. यथाख्यात - जैसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है, तदनुरूप निरपवाद रूप से चारित्रधर्म का पालन यथाख्यात चारित्र है, अर्थात् कषायरहित चारित्र यथाख्यात चारित्र है।

चारित्र के सामायिक, छेदोपस्थापनादि भेद वस्तुतः तो सामायिक के ही भेद हैं, अतः इस प्रसंग में हरिभद्र ने सामायिक एवं गुरुकुलवास का विशेष रूप से वर्णन किया है।

निर्जीव और सजीव सभी प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थों में समभाव रखना सामायिक है। सामायिक अर्थात् समभाव के होने पर ही सम्यक् ज्ञान और दर्शन होते हैं। इसी समत्व की अनुभूति से सामायिक अर्थात् चारित्र में श्रद्धा होती है। साधुओं का गुरु

के प्रति समर्पण भाव ही उनके ज्ञान और दर्शन का आधार है। प्रतिलेखन आदि शुभ अनुष्ठानों का पालन करना ही चारित्र धर्म का पालन है। आप्त की आज्ञा के पालन से ही चारित्र प्राप्त होता है- ऐसा आगमों में वर्णित है। जिनेन्द्रदेव की यह स्पष्ट आज्ञा है कि साधुओं को गुरुकुलवास अर्थात् गुरु के सान्निध्य का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि गुरुकुलवास ही मोक्ष का साधन है। गुरुकुलवास का त्याग नहीं करने वाले साधु श्रुतज्ञान के पात्र बनते हैं। इससे उनका दर्शन और चारित्र भी दृढ़ होता है। शास्त्रज्ञ शिष्य को गुरु आचार्य बना देते हैं। क्षान्ति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, आर्किचन्य और ब्रह्मचर्य- ये दस साधु के धर्म हैं। इन धर्मों में पूर्णता गुरुकुलवास में रहने से ही आती है, अन्यथा इनका अभाव हो जाता है। गुरु की सेवा करने से साधक सदनुष्ठानों में सहभागी होता है और कर्म की निर्जा होती है। सम्यग्ज्ञान और सदनुष्ठान रूपी गुणों से युक्त गुरु ही सच्चा गुरु है। अतः सच्चे गुरु के आश्रय में ही सदा रहना चाहिए। अपने से अधिक या समान गुणों वाला सहायक न मिलने पर अकेले ही विहार करना चाहिए- यह आगमवचन विशिष्ट साधु की अपेक्षा से है, सर्वसामान्य के लिए नहीं है। जात और अजात के भेद से कल्प दो प्रकार का है। पुनः समाप्त और असमाप्त के भेद से भी कल्प दो-दो प्रकार के होते हैं। एकाकी विहार करने वाले साधु को अनेक दोष लगते हैं, यथा- स्त्री सम्बंधी दोष, कुत्तों आदि के काटने का भय, साधु के प्रति द्वेष रखने वाले व्यक्तियों द्वारा आक्रमण, अशुद्ध भिक्षा आदि। इसीलिए जिनेन्द्रदेव ने एक गीतार्थ (विशिष्ट साधु) का दूसरे गीतार्थ की निश्रा में रहने वाले साधु का विहार प्रतिपादित किया है। गीतार्थ साधु भी तभी एकाकी विहार करे, जब उसे कोई सहायक साधु न मिले। अगीतार्थ को तो सदा दूसरे के साथ ही विहार करना चाहिए।

मूलगुणों से युक्त गुरु ही गुरु है। ऐसे गुरु का त्याग नहीं करना चाहिए। कृतज्ञ शिष्य उनका सदैव सम्मान ही करते हैं, किंतु जो कृतज्ञ नहीं होते हैं, वे ही गुरु की अवहेलना करते हैं, वस्तुतः वे साधु नहीं हैं। जो गुरुकुल का त्याग करते हैं, उनका सम्मान करना भी अहितकर है। तीर्थंकर की आज्ञा में रहने वाले साधु पांच समिति और तीन गुप्तियों से युक्त, धर्म के प्रति अनुरागी, इंद्रियों और कषायों के विजेता, गम्भीर, बुद्धिमान, प्रज्ञापनीय और महासत्व वाले होते हैं। सम्यक्ज्ञान और दर्शन के होने पर ही सम्यक् चारित्र होता है। इसलिए जो सम्यक् चारित्र में स्थित है, वे सम्यक् ज्ञान और दर्शन में स्थित हैं। निश्चयनय की अपेक्षा से तो चारित्र का घात होने से ज्ञान और दर्शन का घात हो जाता है, किंतु व्यवहारनय की अपेक्षा से उनका घात हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। जो

गुरुकुलवास रूपी गुण से युक्त हैं और जिसमें सुविहित साधु के वसति-शुद्धि, विहार-शुद्धि, भाषा-शुद्धि आदि लक्षण होते हैं, वही भावसाधु कहलाता है। भावसाधु राग-रहित, निरपेक्ष तथा इंद्रियों को वश में रखने वाला होता है। इन गुणों से युक्त साधु ही अपने अच्छे आचरण से दूसरों में वैराग्य भावना उत्पन्न कर सकता है और स्वयं जल्दी ही शाश्वत सुख वाले मोक्ष को अर्थात् भव विरह को प्राप्त करता है।

द्वादश पंचाशक

बारहवें पंचाशक में हरिभद्र ने 'साधुसामाचारीविधि' का वर्णन किया है। साधु सामाचारी का तात्पर्य है, साधुओं को पालन करने योग्य आचार-सम्बन्धी नियम। साधु सामाचारी दस प्रकार की हैं- इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आवश्यक, निषीधिका, आपृच्छना, प्रतिपृच्छना, छन्दना, निमंत्रणा और उपसम्पदा। इन सामाचारियों का वर्णन निम्न प्रकार है-

इच्छाकार सामाचारी - अन्य साधुओं की इच्छापूर्वक उनसे अपना काम कराना या स्वयं उनका काम करना इच्छा सामाचारी है। इसमें तीन बातें प्रमुख हैं- (१) अनिच्छापूर्वक न तो दूसरों से काम कराना चाहिए और न दूसरों का काम करना चाहिए, (२) अकारण न तो दूसरों से काम करवाना चाहिए और न दूसरों का काम करना चाहिए, (३) रत्नाधिक अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र में अपने से वरिष्ठ साधु से काम नहीं करवाना चाहिए। यदि स्वयं में कार्य करने की शक्ति हो तो दूसरों से वह कार्य न करवाकर दूसरों का कार्य स्वयं ही कर देना चाहिए, किंतु यदि दूसरे का कार्य करने में असमर्थ हो तो उसे असमर्थता व्यक्त कर देनी चाहिए कि आपका कार्य करने की मेरी इच्छा तो है, परंतु मैं वह कार्य करने में असमर्थ हूँ। इस सामाचारी का पालन करने से पराश्रय की प्रवृत्ति समाप्त होती है, आत्मनिर्भरता में वृद्धि होती है, उच्चगोत्र कर्म का बंध होता है और जैनशासन के प्रति लोगों में सम्मान का भाव बढ़ता है।

मिथ्याकार सामाचारी - मिहाव्रता एवं समिति-गुप्ति कं पालन में व्यक्ति सँ यदि कोई गलती हो गई हो तो 'यह गलत हुआ है', ऐसा सोचकर उसका पश्चाताप कर लेना चाहिए, इससे कर्मक्षय होते हैं।

तथाकार सामाचारी - कल्प्य और अकल्प्य का पूर्ण ज्ञान रखने वाले, पांच महाव्रतों का पालन करने वाले तथा संयम और तप से परिपूर्ण मुनियों के योग्य निर्देशों को बिना किसी शंका-कुशंका के स्वीकार कर लेना चाहिए।

आवश्यकता सामाचारी - गुरु की आज्ञा लेकर ही मल-मूत्र निवृत्ति, भिक्षा एवं ज्ञानार्जन आदि के लिए बाहर जाना चाहिए, क्योंकि साधु के लिए ज्ञानार्जन, ध्यान-साधना तथा भिक्षाटन आदि कार्य आवश्यक हैं। इन आवश्यक कार्यों के प्रति गुरु की आज्ञापूर्वक उपाश्रय से बाहर जाना आवश्यकता सामाचारी है। इसमें उपाश्रय से बाहर जाते समय 'आवस्सहि-आवस्सहि' बोलना चाहिए।

निषेधिका सामाचारी - देव या गुरु के स्थान पर प्रवेश करते समय अथवा आवश्यक कार्यों को सम्पन्न करके लौटने पर 'निसीहि' शब्द का उच्चारण करना ही निषेधिका है। इसका तात्पर्य है अशुभ कार्य करने या अनावश्यक रूप से बाहर जाने का निषेध है। गुरुदेव के स्थान का उपभोग सावधानी से करना चाहिए, जिससे उनकी किसी प्रकार की आशातना न हो। जो साधु सावद्ययोग से रहित होते हैं, उन्हीं की निषेधिका सामाचारी सफल होती है।

आपृच्छना सामाचारी - ज्ञानादि कार्य गुरु से पूछकर करना ही आपृच्छना सामाचारी है। गुरु से पूछकर किया गया कार्य सिद्ध होता है। इससे पापकर्मों का प्रणाश तथा पुण्यकर्मों का बंध होता है। आगामी भव में शुभ गति तथा सद्गुरु का लाभ होता है। इसलिए साधु को कोई भी कार्य गुरु की अनुमति लेकर ही करना चाहिए।

प्रतिपृच्छना सामाचारी - गुरु से पूछकर किए गए कार्य को सम्पन्न होने में कोई अंतराल आ गया हो तो पुनः पूछकर कार्य करना प्रतिपृच्छना कहलाता है। पुनः पूछने पर गुरु दूसरा कार्य पहले करने को भी कह सकते हैं या यह कह सकते हैं कि कार्य हो चुका है, अब इसे करना आवश्यक नहीं है। इसलिए साधु को कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व गुरु से पुनः पूछना ही प्रतिपृच्छना सामाचारी है।

छन्दना सामाचारी - भिक्षा में लाए गए आहार को गुरु की आज्ञा से बाल, रोगी आदि को देने के लिए उनसे पूछना कि 'इसकी तुम्हें आवश्यकता है या नहीं', छन्दना सामाचारी है। विशिष्ट तप करने वाला, पारणा करने वाला या असहिष्णुता के कारण समूह (मण्डली) से अलग भोजन करने वाले साधु को छन्दना सामाचारी का अनुसरण करना चाहिए।

निमंत्रण सामाचारी - गुरु से पूछकर आहार आदि के लिए दूसरों को निमंत्रण देना निमंत्रण सामाचारी है।

उपसम्पदा सामाचारी - ज्ञानादि के लिए गुरु से अलग अन्य आचार्य के पास

जाकर रहना उपसम्पदा सामाचारी है। यह तीन प्रकार की होती है- ज्ञान-सम्बन्धी, दर्शन-सम्बन्धी और चारित्र-सम्बन्धी।

इस प्रकार संयम और तप से परिपूर्ण साधुओं को अपने मूलगुण और उत्तरगुण की रक्षा के लिए उपर्युक्त सामाचारी का अच्छी तरह पालन करना चाहिए, जिससे अनेक भवों के संचित कर्मों का क्षय हो एवं उन्हें संसार-सागर से मुक्ति अर्थात् भव-विरह प्राप्त हो सके।

त्रयोदश पंचाशक

तेरहवें पंचाशक में 'पिण्डविधानविधि' का वर्णन किया गया है। पिण्ड अर्थात् भोजन या आहार करते समय आहार की शुद्धता को ध्यान में रखना आवश्यक है। जैन परम्परा में जो आहार उद्गम आदि दोषों से रहित है, वही शुद्ध है। आहार सम्बन्धी दोष तीन प्रकार के हैं - उद्गम-दोष, उत्पादन-दोष और एषणा-दोष। इन तीनों के क्रमशः सोलह, सोलह और दस अर्थात् कुल बयालीस भेद हैं, जो इस प्रकार हैं-

उद्गम दोष - उद्गम दोष आहार बनाने सम्बन्धी दोष हैं। जैसे साधु के लिए भोजन पकाना आदि उद्गम दोष कहलाते हैं। ये दाता से सम्बन्धित हैं। इनके निम्नलिखित सोलह प्रकार हैं-

(१) आधाकर्म - किसी साधु विशेष को लक्ष्य कर बनाया गया भोजन आधाकर्म दोष वाला है।

(२) औद्देशिक - साधुओं को भिक्षा देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन औद्देशिक है।

(३) पूर्तिकर्म - शुद्ध आहार में अशुद्ध आहार मिलाकर पूरे आहार को अशुद्ध बना देना पूर्तिकर्म दोष है।

(४) मिश्रजात - गृहस्थ और साधु दोनों के मिश्रित उद्देश्य से बनाया गया भोजन मिश्रजात दोषवाला है।

(५) स्थापना - साधु को देने के लिए आहार का एक भाग अलग निकाल कर रख देना स्थापना दोष है।

(६) प्राभृतिका - साधुओं के आ जाने के कारण निश्चित समय से पूर्व भोजन आदि का आयोजन करके साधु को भिक्षा देना प्राभृतिका दोष है।

(७) प्रादुष्करण - साधु को भिक्षा देने के लिए भोजन को खुला रख देना प्रादुष्करण दोष है।

(८) क्रीत - साधु के लिए खरीदकर भोजन देना क्रीत दोष है।

(९) अपमित्य - भोजन उधार लेकर साधु को भिक्षा देना अपमित्य दोष है।

(१०) परावर्तित - खाद्य वस्तुओं की अदला-बदली करके साधु को भिक्षा देना परावर्तित दोष है।

(११) अभिहत - साधु को देने के लिए अपने स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया गया आहार अभिहत कहलाता है।

(१२) उद्भिन्न - साधु के लिए बखार, कोठी, आलमारी आदि खोलकर आहार देना उद्भिन्न दोष है।

(१३) मालापहत - साधु को छीके या ऊपरी मंजिल से वस्तु को नीचे लाकर देना मालापहत दोष है।

(१४) आच्छेद्य - साधु को देने के लिए पुत्रादि को दी हुई वस्तु को पुनः वापस ले लेना आच्छेद्य दोष है।

(१५) अनिसृष्ट - अनेक लोगों के हिस्से की वस्तु बिना उनकी आज्ञा के साधु को देना अनिसृष्ट दोष है।

(१६) अध्यवपूरक - अपने लिए बन रहे भोजन में साधु को देने के लिए अधिक सामग्री मिला लेना अध्यवपूरक दोष है।

उत्पादन दोष - आहार प्राप्त करने हेतु साधु से होने वाले दोष उत्पादन दोष हैं। इनके भी निम्न सोलह भेद हैं -

(१) धात्री - धात्री कर्म करके साधु के द्वारा भिक्षा ग्रहण करना धात्री दोष है।

(२) दूती - गृहस्थों को परस्पर एक दूसरे को समाचार पहुंचा कर भिक्षा-ग्रहण करना दूती दोष है।

(३) निमित्त - वर्तमान, भूत और भविष्य के सुख-दुःख बताकर भिक्षा प्राप्त करना निमित्त दोष है।

(४) आजीव - जीवन निर्वाह हेतु साधु द्वारा गृहस्थ या आजीविका अर्जन करना आजीव दोष है।

(५) वनीपक - गृहस्थ की प्रशंसा करके भिक्षा प्राप्त करना वनीपक दोष है।

(६) चिकित्सा - गृहस्थ की चिकित्सा करके आहार प्राप्त करना चिकित्सा दोष है।

(७) क्रोधपिण्ड - भिक्षा नहीं देने पर श्राप दे दूंगा, ऐसा भय दिखाकर आहार प्राप्त करना क्रोधपिण्ड दोष है।

(८) मानपिण्ड - अपने स्वाभिमान हेतु पारिवारिकजनों की बात न मानकर साधु को आहार देना मानपिण्ड दोष है।

(९) मायापिण्ड - वेश परिवर्तन द्वारा गृहस्थ को धोखा देकर उससे आहार ग्रहण करना मायापिण्ड दोष है।

(१०) लोभपिण्ड - स्वादिष्ट आहार के लालच से अनेक घरों में भिक्षा हेतु जाना लोभपिण्ड दोष है।

(११) पूर्वपश्चात्संस्तव - आहार ग्रहण करने से पूर्व या बाद में दाता की प्रशंसा करना।

(१२-१५) विद्या-मंत्र-चूर्ण-योग प्रयोग- विद्युत्, मंत्र, चूर्ण और योग का प्रयोग कर आहार प्राप्त करना।

(१६) मूलकर्म - जिसके कारण पूर्व दीक्षा पर्याय छेदकर पुनः दीक्षा लेना होता है, जैसे ब्रह्मचर्य भंग करके या गर्भपात करवाकर भिक्षा लेना मूलकर्म दोष है।

एषणा दोष - एषणा, गवेषणा, अन्वेषणा, ग्रहण- इन सभी का एक ही अर्थ है। आहार की एषणा के दोष इस प्रकार हैं -

(१) शंकित - आधाकर्मादि दोषों की शंका होने पर भी वह आहार लेना शंकित दोष है।

(२) प्रक्षित (युक्त) - सचित्त वनस्पति पानी आदि से युक्त आहार लेना।

(३) निक्षिप्त (रखा हुआ) - सचित्त वस्तु पर रखा हुआ आहार लेना।

(४) पिहित (ढंका हुआ) - जो आहार सचित्त फलादि से ढंका हो, उसे ग्रहण करना।

(५) संहत - जिस बर्तन में सचित्त वस्तु रखी हो, उसी से साधु को आहार देना।

(६) दायक - गर्भवती आदि भिक्षा देने के अयोग्य व्यक्तियों द्वारा भिक्षा लेना।

(७) उन्मिश्र - सचित्त बीज, कंद आदि मिला हुआ आहार उन्मिश्र आहार है।

(८) अपरिणत - पूर्णतया अचित्त न हुआ हो या पूरी तरह पका न हो, ऐसा आहार लेना अपरिणत दोष है।

(९) लिप्त - अखाद्य वस्तु से लिप्त आहार लेना।

(१०) छर्दित - देते समय आहारादि नीचे गिर रहा हो, ऐसा आहार लेना।

उक्त बयालीस दोषों से रहित आहार ही साधुओं के योग्य है। आहार की शुद्धता को जानने के लिए अतीत-अनागत-वर्तमान काल सम्बंधी विचारणा करने से उसका ज्ञान हो जाता है। जो साधु इसको जानकर और आप्तवचनों को प्रमाण मानकर सम्पूर्ण पिण्डदोषों को दूर करता है, वह जल्दी ही अपनी संयम-यात्रा से मुक्ति को प्राप्त होता है।

चतुर्दशक पंचाशक

चौदहवें पंचाशक में हरिभद्र ने शीलांगों का निरूपण किया है। श्रमणों के शील सम्बंधी विषय पहलुओं को शीलांग कहा गया है। इनकी संख्या अट्ठारह हजार है। ये सभी शीलांग अखण्ड भावचारित्र वाले श्रमणों में पाए जाते हैं। तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पांच इंद्रिय, दस काय और दस श्रमणधर्म इनके पारस्परिक गुणन से अट्ठारह हजार शीलांग होते हैं, यथा - $3 \times 3 \times 4 \times 5 \times 10 \times 10 = 18000$ । शीलांगों की अट्ठारह हजार की यह संख्या अखण्ड भावचारित्रसम्पन्न मुनि में कभी कम नहीं होती है, क्योंकि प्रतिक्रमण सूत्र में इन अट्ठारह हजार शीलांगों को धारण करने वाले मुनियों को ही वंदनीय कहा गया है। दूसरे यह कि अट्ठारह हजार में से कोई एक भी भाग न होने पर सर्वविरति नहीं होती है और सर्वविरति के बिना मुनि नहीं होता। अतः बुद्धिमानों को इन शीलांगों के सम्बंध में इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि कोई भी एक शीलांग तभी सम्यक् रूप से परिशुद्ध होता है, जब वह अन्य शीलांगों से युक्त होता है। यदि एक शीलांग स्वतंत्र रूप से पूर्ण हो, तो वह सर्वविरति रूप नहीं हो सकता, क्योंकि सभी शीलांग मिलकर ही सर्वविरति रूप होते हैं। सर्वविरति रूप शील (सम्यक् चारित्र) अट्ठारह हजार शीलांग वाला है। शील की यह अखण्डता या सम्पूर्णता अन्तःकरण के परिणामों की अपेक्षा से होती है।

जिन आज्ञा के विरुद्ध प्रवृत्ति चाहे अपने में विशुद्ध ही क्यों न हो विरतिभाव को अवश्य बाधित करती है। व्यक्ति की प्रवृत्ति प्रज्ञापनीय और अप्रज्ञापनीय ऐसी दो प्रकार की होती है। आगम सम्मत प्रवृत्ति प्रज्ञापनीय है और आगम विरुद्ध प्रवृत्ति अप्रज्ञापनीय।

गीतार्थ और गीतार्थ की आज्ञा में रहने वाले अन्य साधुओं की प्रवृत्ति आगमविरुद्ध नहीं होती है, क्योंकि गीतार्थ कभी आसवचन का उल्लंघन नहीं करता है। गीतार्थ स्वयं चारित्र सम्पन्न होता है और सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले को ऐसा करने से रोकता है। इस तरह दोनों का ही चारित्र शुद्ध बनता है। चारित्र परिशुद्ध तब होता है जब सभी शीलांगों का पालन समवेत रूप से होता है, किंतु शीलांगों का समवेत पालन सभी नहीं कर सकते। इसका पालन वे ही कर सकते हैं, जो मोक्षार्थी संसार से विरक्त होकर जिनाज्ञा की आराधना में तत्पर बना हो, जो शक्ति के अनुरूप आगमोक्त क्रिया में उद्यत हो, जो कर्म दोषों को निर्जरित करता हो, जो सर्वत्र अप्रतिबद्ध होकर तैलपात्रधारक और राधावेधक (उपद्रवों की चिंता किए बिना आंख की पुतली को बेधने वाला) की तरह अत्यधिक अप्रमत्तपूर्वक रहे। ऐसा व्यक्ति ही सर्वविरति रूप चारित्र पालने में समर्थ होता है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने कहा है कि आगमोक्त गुणों से युक्त साधु ही साधु होता है। सुवर्ण का दृष्टांत देते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार सुवर्ण के गुणों से रहित सुवर्ण वास्तविक सुवर्ण नहीं है, उसी प्रकार साधु के गुणों से रहित साधु वास्तविक साधु नहीं है। सुवर्ण के आठ गुण होते हैं—विषघाती, रसायन, मंगलकारी, विनीत, प्रदक्षिणावर्त्त, गुरुक, अदाह्य और अकुलस्या। इसी प्रकार के गुण साधु में भी पाए जाते हैं। जिस प्रकार उपर्युक्त आठ गुणों से युक्त स्वर्ण ही वास्तविक स्वर्ण होता है, उसी प्रकार गुणरहित वेशमात्र से साधु वास्तविक अर्थ में साधु नहीं होता है। जो औद्देशिक आधाकर्म आदि दोषों से युक्त आहार करता है, वह निश्चय ही पृथ्वी आदि षट्काय के जीवों की हिंसा करता है। जो जिनभवन के बहाने अपने आवास का साधन जुटाता है तथा जानते हुए भी सचित्त जल पीता है, वह साधु कैसे हो सकता है? इस प्रकार सम्पूर्ण शीलांगों से युक्त शुभ अध्यवसाय वाले साधु ही सांसारिक दुःख का अंत करते हैं, अर्थात् भव विरह को प्राप्त होते हैं, अन्य द्रव्यलिंगी साधु नहीं।

पंचदश पंचाशक

यदि किसी कारणवश शीलांगों का अतिक्रमण हो जाता है, तो उसकी शुद्धि के लिए आलोचना करनी पड़ती है। अतः पंद्रहवें पंचाशक में आलोचनाविधि का वर्णन किया गया है। अपने दुष्कृत्यों को गुरु के समक्ष सद्भाव से कुछ भी छिपाए बिना बताना आलोचना है। अज्ञानतावश या राग-द्वेष से युक्त होकर किए गए कार्यों से अशुभ कार्य का बंध होता है, जिसके लिए भावपूर्वक आलोचना करना आवश्यक हो जाती है। आलोचना

विधिपूर्वक ही होनी चाहिए, क्योंकि अविधिपूर्वक आलोचना करने से जिनाज्ञा का भंग होता है और चित्त मलिनता को प्राप्त करता है। आलोचना का काल दिवस, पक्ष, चातुर्मास आदि कहा गया है। सामान्यतया प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते समय सुबह-शाम आलोचना की जाती है, लेकिन किसी विशिष्ट अपराध के होने पर या बीमारी या विहार यात्रा में होने पर पक्षादि में भी आलोचना करने का विधान है। विशेषकर पाक्षिक पर्व या चातुर्मास पर्व में आलोचना अवश्य करनी चाहिए, क्योंकि यह जिनाज्ञा है। आलोचना के योग्य व्यक्ति, आलोचना करने वाला योग्य गुरु, आलोचना क्रम, मनोभावों का प्रकाशन और द्रव्यादि शुद्धि- ये आलोचना के पांच द्वार हैं। सर्वप्रथम संविग्र, मायारहित, विद्वान्, कल्पस्थित, अनाशंसी, श्रद्धालु, आज्ञावान, दुष्कृत पापी, आलोचना समुत्सुक और अभिग्रह आदि प्रज्ञापनीय लक्षणों से युक्त साधु ही आलोचना के योग्य हैं। इसी प्रकार आचारवान, अवधारवान, व्यवहारवान, अपरिश्रावी, चारित्रवाला और कुशलमति गुरु ही आलोचना करवाने का अधिकारी है। आलोचना के क्रम में पहले छोटे अतिचारों को कहकर बाद में बड़े अतिचारों (दोषों) को कहना चाहिए। पुनः आलोचना के क्रम में संकल्पपूर्वक, संयम की रक्षा हेतु, यतनापूर्वक, कल्पपूर्वक, सम्भ्रम के कारण उचित-अनुचित का विवेक किए बिना जिस भाव से जो कार्य किया हो, वह सब गुरु के समक्ष यथास्वरूप निवेदन कर प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में आलोचना करनी चाहिए।

आलोचक को शल्य यानि पापानुष्ठान का उद्धार नहीं करने से होने वाले दुष्ट परिणामों को दिखाने वाले और शल्योद्धार करने में होने वाले लाभों को दिखाने वाले प्रसिद्ध सूत्रों से चित्त को मोक्षाभिमुख बनाकर आलोचना करनी चाहिए। इसी प्रकार गुरु को भी शिष्य के चित्त को संविग्र बनाकर उससे आलोचना करानी चाहिए। गीतार्थ के समक्ष अपने दुष्कृत्य का भावपूर्वक प्रकाशन नहीं करना भावशल्य है। जो गुरु या गीतार्थ के होने पर भी लज्जा आदि के कारण स्वयं ही आलोचना करके प्रायश्चित्त आदि ग्रहण करते हुए शुद्धि करते हैं, वे भावशल्य सहित होते हैं। जिस प्रकार व्रण चिकित्सा को सम्पूर्णतया जानने वाला व्यक्ति भी यदि शरीर में हुए खराब पीब आदि वाले फोड़े को बढ़ने दे, तो वह फोड़ा मृत्यु का कारण होने से अनिष्टकारी होता है, उसी प्रकार जिसने अपने भावशल्य को दूसरों को नहीं बतलाया हो उसके लिए चारित्ररूपी शरीर में स्थित यह अतिचाररूपी फोड़ा अनन्त जन्म-मरण का कारण होने से अनिष्टकारक होता है। शल्यसहित मरकर जीव संसाररूपी घोर अरण्य (जंगल) में प्रवेश करते हैं और उसमें दीर्घकाल तक भटकते हैं। तीनों लोकों के मित्र जिनेन्द्रदेव ने इस आलोचना को भावाराग्य

(भावों की शुद्धता) के रूप फल देने वाली कहा है। अतः मैं निदानरहित होकर भयंकर फलदायी सम्पूर्ण भावशल्य को गुरु के समक्ष विधिपूर्वक प्रकट करके दूर करूंगा- ऐसे भाव मन में उत्पन्न करना चाहिए। जिस प्रकार बालक अपनी माता के समक्ष बोलते हुए कार्य-अकार्य को छिपाए बिना जैसा होता है, वैसा कह देता है, उसी प्रकार साधु को साया और मद से मुक्त होकर अपने अपराध को यथातथ्य गुरु के समक्ष निवेदन कर देना चाहिए और गुरु ने अपराध की शुद्धि हेतु जो दण्ड दिया है, उसे यथावत् स्वीकार करना चाहिए। जिन दोषों को किया हो, उन दोषों को फिर से न करना ही सम्यक् आलोचना होती है। इसलिए मनुष्यत्व प्राप्त करके और दुष्कृत्यों के कारणभूत मनोभावों का त्याग करके मुमुक्षुओं को निरंतर आत्म-विशुद्धि का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि निर्वाणरूप सुख अर्थात् भव-विरह का यही एकमात्र उपाय है।

षोडश पंचाशक

सोलहवें पंचाशक में 'प्रायश्चित्तविधि' का विवेचन किया गया है। सामान्यतया जिससे प्रायः चित्त-शुद्धि होती है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। लेकिन प्राकृतभाषा में इसका पायच्छित्त रूप बनता है, अर्थात् जिससे पाप का छेदन होता है, वह पायच्छित्त कहलाता है। प्रायश्चित्त के आलोचना प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक - ये दस प्रकार बताए गए हैं। भावपूर्वक किया गया प्रायश्चित्त ही यथार्थ होता है। भव्य, आगमों में श्रद्धावान और संविग्र जीवों का प्रायश्चित्त भाव प्रायश्चित्त होता है और इससे भिन्न शेष जीवों का प्रायश्चित्त केवल द्रव्य प्रायश्चित्त होता है। भावरहित होने के कारण वह शुद्धि नहीं करने वाला होता है। आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग निर्युक्ति रूप शास्त्र में द्रव्य व्रण के दृष्टांत से चारित्राचार रूप भावव्रण की चिकित्सा का एक रूपक प्रस्तुत किया है। कहा है- शरीर में तद्भव और आगन्तुक ये दो प्रकार के व्रण होते हैं, जिनसे आगन्तुक व्रण का शल्योद्धारण किया जाता है, तद्भव व्रण का नहीं। जो शल्य पतला हो अधिक गहरा न हो उसे बाहर खींच लिया जाता है। उस स्थान का मर्दन भी नहीं किया जाता है। जो शल्य शरीर में प्रथम प्रकार के शल्य से थोड़ा अधिक चुभा हो, किंतु अधिक गहरा न हो ऐसे शल्य में शल्योद्धार, व्रणमर्दन और कर्णमलपूरण - ये तीन क्रियाएं होती हैं, किंतु यदि शल्य अधिक गहरा हो तो वैद्य व्रण में से शल्य निकालकर दर्द नहीं हो, इसके लिए थोड़ा खून निकालते हैं तथा शल्योद्धार करके व्रण जल्दी ठीक हो जाए, इसके लिए चिकित्साशास्त्र के अनुसार पथ्य, भोजन और औषधि दे करके व्रण को सुखाते हैं। यहां प्रायश्चित्त के प्रसंग में भावव्रण को भी

उसकी चिकित्सा-विधि सहित जानना योग्य है। भावव्रण को अध्यात्म के रहस्य के ज्ञाता योगियों की सूक्ष्म बुद्धि से ही अच्छी तरह जाना जा सकता है। प्रायश्चित्त के दस प्रकारों में से सात को उपर्युक्त व्रण का दृष्टांत देकर समझाया गया है। मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त योग्य अपराधों में सम्यक् चारित्र के अभाव के कारण व्रण के दृष्टांत की विचारणा नहीं की गई है, क्योंकि मूल आदि तीनों प्रायश्चित्तों के योग्य अपराध सम्यक् चारित्र का सर्वथा अभाव होने पर ही होते हैं। संकल्पपूर्वक किए गए महाव्रतों के भंग रूपी अपराधों में चारित्रधर्म का अभाव हो जाने से उस साधु में महाव्रतों की पुनः स्थापना करना 'मूल' प्रायश्चित्त है। दुष्ट-अध्यवसायों से किए गए अपराधों का जब तक उचित तप से शुद्धिकरण न हो तब तक उसे महाव्रत न देना अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है। पारांचिक प्रायश्चित्त के स्वरूप को लेकर आचार्यों में मतभेद है। कुछ आचार्यों का मानना है कि जो जीव संघभेद, चैत्यभेद एवं जिन प्रवचन का उपघात करने से इस भव में और अन्य भवों में चारित्र के अयोग्य होते हैं, वे पारांचिक कहलाते हैं। उनका यह मानना उचित भी हो सकता है, क्योंकि परिणामों की विचित्रता के कारण मोहनीय आदि कर्मों का निरूपमक्रम बंध होने से इस भव में और अन्य भवों में चारित्र की प्राप्ति की अयोग्यता हो सकती है, इसलिए अन्य आचार्यों का मत भी असंगत नहीं है।

आगम में आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत- ऐसे पांच प्रकार के प्रायश्चित्त देने की विधि बतलाई गई है। इन पांच प्रकार के व्यवहारों के आधार पर अनेक प्रकाय के प्रायश्चित्त कहे गए हैं। यहां यह प्रश्न होता है कि आगमोक्त भिक्षाचर्या आदि अनुष्ठान निर्दोष होते हैं और सदोष अनुष्ठान में ही प्रायश्चित्त होता है, निर्दोष अनुष्ठान में नहीं। तब फिर आगमोक्त, शुद्धचर्या करने वाले साधु के लिए भी आगम में प्रतिदिन आलोचनादि प्रायश्चित्त करने का विधान क्यों किया गया? यहां पर यह कहा जा सकता है कि आगमोक्त अनुष्ठान का प्रायश्चित्त नहीं किया जाता है, अपितु उस अनुष्ठान को करते समय जो सूक्ष्म विराधना होती है, उसकी शुद्धि के लिए आलोचनादि प्रायश्चित्त किए जाते हैं। सामान्यतया सभी जीव आयुष्य के अतिरिक्त अन्य सात प्रकार के कर्मों का सतत बंध करते रहते हैं। आयुष्य कर्म का बंध एक भव में एक ही बार होता है। दसवें सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान को प्राप्त जीव मोहनीय और आयुष्य कर्म के अतिरिक्त अन्य छः प्रकार के कर्मों का बंध करते हैं। उपशांत मोह, क्षीणमोह और सयोगी केवली- ये तीन गुणस्थान दो समय के बंध की स्थिति वाले हैं। इनमें मात्र सातावेदनीय कर्म का बंध होता है। इनमें योगनिमित्तक बंध होता है, कषाय निमित्तक नहीं, क्योंकि कषायों का सर्वथा उदय नहीं होता। इसी प्रकार सातवें

गुणस्थान में स्थित अप्रमत्तसंयत साधुओं को उत्कृष्ट से आठ मुहूर्त का और जघन्य से अन्तर्मुहूर्त की स्थिति का बंध होता है। वस्तुतः, छद्मस्थ को सभी अवस्थाओं में कर्मबंध होता है, क्योंकि छद्मस्थ वीतरागी को भी मनोयोग आदि होते हैं। इसलिए उन्हें विराधना की शुद्धि करना आवश्यक है। अतः आलोचनादि प्रायश्चित्त सहित आगमोक्त अनुष्ठान कर कर्म के अनुबंध का छेदन करने वाले निर्दोष होते हैं। जिस दोष का प्रायश्चित्त किया गया हो, प्रायः उसे फिर से न किया जाए, अच्छी तरह से किए गए प्रायश्चित्त का लक्षण है।

सप्तदश पंचाशक

सत्रहवें पंचाशक में 'कल्पविधि' का वर्णन है। कल्प दो प्रकार के हैं - (१) स्थितकल्प और (२) अस्थितकल्प। स्थितकल्प वे हैं जो सदैव आचरणीय होते हैं। अस्थित कल्प किसी कारण से आचरणीय होते हैं और किसी से नहीं। सामान्यतः आचेलक्य आदि के भेद से कल्प के दस प्रकार होते हैं - १. आचलेक्य, २. औद्देशिक, ३. शय्यातरपिण्ड, ४. राजपिण्ड, ५. कृतिकर्म, ६. व्रत (महाव्रत), ७. ज्येष्ठ, ८. प्रतिक्रमण, ९. मासकल्प, १०. पर्युषणाकल्प। ये दस कल्प प्रथम और अंतिम जिनों (तीर्थकरों) के शासन-काल के साधुओं के लिए स्थितकल्प होते हैं और मध्यवर्ती बाईस जिनों (तीर्थकरों) के साधुओं के लिए, इनमें से छः कल्प अस्थित होते हैं और चार कल्प स्थित होते हैं। आचेलक्य, औद्देशिक, प्रतिक्रमण, राजपिण्ड, मासकल्प और पर्युषणाकल्प - ये छः मध्यवर्ती जिनों के साधुओं के लिए अस्थित कल्प होते हैं तथा शेष चार कल्प मध्यकालीन जिनों के साधुओं के लिए भी स्थित ही होते हैं। स्थित कल्प का पालन अपरिहार्य होता है। अस्थित कल्प का पालन वैकल्पिक होता है। आचेलक्य आदि कल्प का स्वरूप निम्नलिखित है-

आचेलक्य - आचलेक्य नग्नता को कहा जाता है, लेकिन वस्त्र न होने और अल्प वस्त्र, दोनों ही स्थिति आचेलक्य की स्थिति होती है। वस्त्र का न होना तो अचेलकता को स्पष्ट करता है, लेकिन सवस्त्र भी निर्वस्त्र है, स्पष्ट नहीं होता है। जैसा कि इस पंचाशक में आया है, अल्पमूल्य के फटे कपड़ों के होने पर अचेल ही कहा जाता है। यह बात लोक-व्यवहार और आगम-न्याय - इन दोनों से सिद्ध होती है। लोक में जीर्ण वस्त्र को 'वस्त्र नहीं है' ऐसा माना जाता है, क्योंकि वह विशिष्ट कार्य का साधक नहीं होता है। आगमवचन से भी श्वेत जीर्णवस्त्र होने पर उसे वस्त्रहीन ही समझा जाता है।

औद्देशिक - साधु के निमित्त से जो आहार बना हो वह औद्देशिक कहलाता है। औद्देशिक आहार प्रथम और अंतिम जिनों के सभी साधुओं के लिए ग्रहण करने के योग्य नहीं है। मध्यवर्ती जिनों के साधुओं में जिस संघ या साधु के निमित्त बना है, वह उस संघ या साधु के द्वारा ग्राह्य नहीं है, शेष साधुओं द्वारा ग्राह्य है।

शय्यातरपिण्ड - शय्यातर का अर्थ होता है- साधुओं के उपाश्रय या ठहरने का स्थान देने वाला। अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, रजोहरण और कम्बल, सुई, चाक, नाखून काटने का साधन और कान का मैल निकालने का साधन आदि शय्यातरपिण्ड के कुल बारह प्रकार हैं। जिनों के साधुओं के लिए शय्यातरपिण्ड ग्राह्य नहीं होता है।

राजपिण्ड - अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण-ये आठ प्रकार के राजपिण्ड कहे गए हैं। प्रथम, अंतिम, मध्यवर्ती और महाविदेह क्षेत्र के सभी जिनों के साधुओं के लिए यह पिण्ड ग्रहण करना वर्जित है, क्योंकि इससे व्याघात आदि दोष लगते हैं।

कृतिकर्म - अभ्युत्थान और वंदन के भेद से कृतिकर्म दो प्रकार का होता है। अभ्युत्थान का अर्थ होता है- आचार्यादि के आने पर सम्मान-स्वरूप खड़े हो जाना और वंदन का अर्थ होता है- द्वादशवर्त से वंदना करना। साधु एवं साध्वती दोनों को वरिष्ठता-क्रम के अनुसार कृतिकर्म करना चाहिए।

व्रत - प्रथम और अंतिम जिनों के साधुओं के लिए पांच महाव्रतों वाला चारित्रधर्म होता है और शेष जिनों के साधुओं के लिए चार महाव्रत (चातुर्याम) का चारित्र धर्म होता है। पांच महाव्रत और चार महाव्रत रूप वचन भेद से दो प्रकार का होने पर भी यह कल्प परमार्थ से एक प्रकार का ही है और सभी के लिए पालनयी है।

ज्येष्ठ - महाव्रतों का आरोपण होना उपस्थापना है। प्रथम और अंतिम जिनों के साधुओं में उपस्थापना से ज्येष्ठता मानी जाती है, अर्थात् जिसकी बड़ी दीक्षा पहले हो वह ज्येष्ठ माना जाता है। मध्य जिनों के साधुओं की सामायिक चारित्र की दीक्षा से ही उनकी ज्येष्ठता मानी जाती है, किंतु यह तभी हो सकता है, जब उनका चारित्र अतिचार रहित हो।

प्रतिक्रमण और आवश्यक कर्म - प्रथम और अंतिम जिनों के साधुओं के अतिचार लगे या न लगे, गमन, आगमन और विहार में सुबह-शाम छः आवश्यक रूप प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए। मध्य के जिनों के साधुओं को दोष लगे तब प्रतिक्रमण करना चाहिए। दोष न लगने पर मध्य के जिनों के साधुओं के फिर प्रतिक्रमण करना

आवश्यक नहीं है।

मासकल्प - चातुर्मास के अतिरिक्त एक स्थान पर एक महीने से अधिक नहीं रहने का आचार मासकल्प कहलाता है। प्रथम और अंतिम जिनों के साधुओं के लिए मासकल्प स्थितकल्प है अर्थात् वे एक स्थान पर एक मास से अधिक नहीं रह सकते, क्योंकि अन्यथा दोष लगता है, जबकि मध्यवर्ती जिनों के साधुओं के लिए मासकल्प अस्थित है अर्थात् वे एक मास से अधिक भी एक स्थान पर रह सकते हैं। प्रथम और अंतिम जिनों के साधुओं द्वारा मासकल्प का पालन नहीं करने पर प्रतिबद्धता, लघुता, जनोपकार, आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं। इसलिए मासकल्प द्रव्यतः न हो सके, तो भावतः अवश्य करना चाहिए। मासकल्प की ही भांति पर्युषणाकल्प भी होता है। जघन्य और उत्कृष्ट की दृष्टि से पर्युषणाकल्प दो प्रकार का होता है और भाद्रपद शुक्ल पंचमी से कार्तिक-पूर्णिमा तक कुल सत्तर दिन (७० दिन) रात का जघन्य पर्युषणाकल्प होता है।

कल्पों का उपर्युक्त स्थित-अस्थित विभाजन सकारण ही है। काल के प्रभाव से साधुओं के स्वभाव में भिन्नता होती है। इसलिए जिनेश्वरों ने उनकी स्थित-अस्थित कल्प रूप मर्यादा की है। ऋजु-जड़ता आदि से युक्त जीवों का भी चारित्र जिनेश्वरों के द्वारा जाना गया है। वे प्रव्रज्या के योग्य होते हैं, क्योंकि स्थिर और अस्थिर- इन दो प्रकार के भावों में से ऋजु-जड़ जीवों के स्थिर भाव शुद्ध होते हैं। अस्थिर भाव तथाविध सामग्री से अशुद्ध होता है, किंतु वह अशुद्धभाव चारित्र का घात नहीं करता है। जिस प्रकार प्रथम जिन के साधुओं का स्वलन उनके चारित्र का बाधक नहीं है, उसी प्रकार अंतिम जिन के साधुओं का स्वलन भी काल के प्रभाव के कारण चारित्र का बाधक नहीं है, क्योंकि वे प्रायः मातृस्थान अर्थात् मायारूप संज्वलन कषाय का सेवन करते हैं, न कि अनन्तानुबंधी कषाय का। क्योंकि यदि माया अनन्तानुबंधी कषायसम्बंधी हो तो वे व्यक्ति श्रमणत्व (साधुता) को ही प्राप्त नहीं होते हैं, इसलिए साधु के सभी अतिचार संज्वलन कषाय के उदय से ही होते हैं। अनन्तानुबंधी आदि बारह कषायों के उदय से तो सर्वविरति रूप चारित्र धर्म का मूलतः नाश हो जाता है। संज्वलन कषाय रूप माया से उत्पन्न अतिचार चारित्र का घातक नहीं है। अतः अतिचार हो तो भी अंतिम जिन के साधुओं को सम्यक् चारित्र होता है। अतः जो संसार भीरु हैं, गुरुओं के प्रति विनीत हैं, ज्ञानी हैं, जितेन्द्रिय हैं, जिन्होंने कषायों को जीत लिया है, संसार से विमुक्त होने में यथाशक्ति तत्पर रहते हैं, वे वस्तुतः साधु हैं।

अष्टादश पंचाशक

अष्टारवें पंचाशक में 'भिक्षुप्रतिमाकल्पविधि' का वर्णन हुआ है। अर्हन्तों ने मासिकी आदि बारह भिक्षु प्रतिमाओं का उल्लेख किया है। विशिष्ट क्रिया वाले साधु का प्रशस्त अध्यवसाय रूपी शरीर ही प्रतिमा है। आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार मासिकी, द्विमासिकी, त्रैमासिकी, चतुर्मासिकी, पंचमासिकी, षष्ठमासिकी, सप्तमासिकी- ये एक महीने से प्रारम्भ होकर क्रमशः दो, तीन, चार, पांच, छः और सात महीने तक पालन करने योग्य सात प्रतिमाएं हैं। आठवीं, नौवीं और दसवीं प्रतिमा सप्तदिवसीय तथा ग्यारहवीं और बारहवीं प्रतिमा एक दिवस-रात्रि की होने से कुल बारह प्रतिमाएं होती हैं।

संहननयुक्त, धृतियुक्त, महासात्त्विक, भावितात्मा, सुनिर्मित, उत्कृष्ट से थोड़ा कम दस पूर्व और जघन्य से नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु तक का श्रुतज्ञानी, व्युत्सृष्टकाय, त्यक्तकाय, जिनकल्पी की तरह उपसर्ग सहिष्णु, अभिग्रह वाली एषणा लेने वाला, अलेप आहार लेने वाला, अभिग्रहपूर्वक उपाधि लेने वाला साधु ही गुरु से आज्ञा प्राप्त कर इन प्रतिमाओं को धारण कर सकता है। गच्छ से निकलकर ही इन मासिकी आदि प्रतिमाओं को स्वीकार किया जाता है। शरद-ऋतु में शुभयोग होने पर सभी साधुओं से क्षमायाचना कर गच्छ से निकलकर साधु इन प्रतिमाओं की साधना करता है।

मासिक प्रतिमा का स्वरूप (एक से सात तक)- एक महीने तक भोजन की एक ही दत्ति लेनी चाहिए अर्थात् एक बार में धार टूटे बिना पात्र में जितना भोजन गिर जाए वह एक दत्ति है। इसी प्रकार पानी की भी एक ही दत्ति लेना चाहिए। भिक्षा देने वाले को भिक्षा लेने वाले की दत्ति का पता न चले, किसी एक एषणा से भोजन ले, चिकनाई रहित आहार लें, एक ही घर से आहार लें... .. आदि इस प्रकार २१ नियमों (अभिग्रहों) का पालन साधु को एक महीने तक एक गांव से दूसरे गांव में परिभ्रमण करते हुए इस मासिकी प्रतिमा का वहन करना चाहिए। एक मास पूर्ण होने पर ही वह साधु जिस गांव में गच्छ हो, उसके समीप के गांव में आए, तब आचार्य उस साधु की पूरी तरह से जांच करके, राजा को उसकी सूचना देकर, इस साधु की प्रशंसा करते हुए गच्छ में प्रवेश कराते हैं। इसी प्रकार द्विमासिकी, त्रैमासिकी, चतुर्मासिकी, पंचमासिकी, षष्ठमासिकी, सप्तमासिकी प्रतिमाओं का भी पालन किया जाता है। इनमें क्रमशः महीने के साथ-साथ दत्ति की वृद्धि होती है, जैसे- दूसरी प्रतिमा में दो मास तक दो दत्ति, तीसरी प्रतिमा में तीन मास तक तीन दत्ति इत्यादि।

आठवीं प्रतिमा का स्वरूप - सात दिनों की इस प्रतिमा में चौविहार उपवास, पारणे में आयम्बिल करते हुए सात दिन गांव के बाहर रहकर देव, मनुष्य और तिर्यक सम्बंधी उपसर्गों को समभाव से सहन करना चाहिए।

नौवीं प्रतिमा का स्वरूप - यह प्रतिमा भी आठवीं के समान ही है, अंतर इतना ही है कि इसमें साधु को उत्कटुक आसन में बैठना, टेढ़ी लकड़ी के समान सोना या लकड़ी की तरह लम्बा होकर सोना पड़ता है। अतः इनमें से किसी एक स्थिति में रहकर उपसर्गों को समभावपूर्वक सहना चाहिए।

दसवीं प्रतिमा का स्वरूप - इसमें उपर्युक्त प्रतिमा की तरह ही गोदोहिका, वीरासन या आम्रफल की तरह टेढ़ा- किसी भी एक आसन में रहकर उपसर्गों को सहन करना होता है। इस प्रकार ये तीनों प्रतिमाएं २१ दिन में पूरी होती हैं।

ग्यारहवीं प्रतिमा का स्वरूप - यह प्रतिमा एक दिन-रात्रि की है। इसमें चौविहार दो दिवस (बेले) का तप करना होता है। उपवास में चार समय का भोजन तथा आगे-पीछे के दिनों में एकासन करने से एक-एक समय का भोजन, इस प्रकार कुल छः समय के भोजन का त्यागकर ग्राम के बाहर कायोत्सर्ग मुद्रा में तीन दिनों तक यह प्रतिमा-प्रक्रिया चलती है।

बारहवीं प्रतिमा का स्वरूप - यह भी एक रात्रि की प्रतिमा है। इसमें चौविहार अर्थात् तीन दिन तक निर्जल उपवास करना, अष्टम तप, कायोत्सर्ग मुद्रा, स्थिर दृष्टि, शरीर के सभी अंगों में स्थिरता आदि इस तप की विशेषताएं हैं। प्रथम रात्रि के बाद अष्टम तप करने से यह चार दिनों की होती है।

प्रतिमाकल्प के विषय में आचार्यों के बीच मतभेद देखने को मिलता है। कुछ आचार्यों का मानना है कि प्रतिमाकल्प में प्रतिमा के गुरु-लाघव के विषय में विधिवत् विचारणा नहीं हुई है, क्योंकि प्रतिमा को स्वीकार करने वाला साधु गच्छ से निकलकर प्रतिमा को स्वीकार करता है, जबकि तपादि तो गच्छवास और गच्छनिर्गमन- दोनों में समान रूप से किया जा सकता है। इस दृष्टि से गच्छनिर्गमन कम लाभप्रद है, क्योंकि उससे केवल साधु का अपना उपकार होता है। इसका समाधान करते हुए आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि यह प्रतिमाकल्प केवल विशेष साधुओं के लिए ही है, सर्वसाधारण के लिए नहीं, क्योंकि दशपूर्वधर आदि के लिए प्रतिमाकल्प वर्जित है, अतः वे केवल गच्छ में रहकर ही उपकारक होते हैं। इसलिए प्रतिमाकल्प में गुरु-लाघव आदि की विचारणा नहीं हुई है, यह कहना उचित नहीं है। इस समस्या सम्बंधी दूसरी युक्ति को प्रस्तुत करते हुए

आचार्य हरिभद्र ने कहा है- जब गच्छ में किसी बहुश्रुत साधु के होने से सूत्रार्थ की वृद्धि हो रही हो और प्रतिमाकल्प स्वीकार करने वाले साधु में दशपूर्व से अधिक श्रुत पढ़ाने की शक्ति न हो, गच्छ बाधारहित हो, अथवा बाल, वृद्ध आदि की सेवा करने वाले हों तथा आचार्यादि गच्छ के पालन में तत्पर हों, कोई नवीन दीक्षा लेने वाला न हो, उस समय ही प्रतिमाकल्प को स्वीकार किया जा सकता है। प्रतिमाकल्प को स्वीकार करने के बाद ही कर्मों का क्षय होता है। स्थविरकल्प के अनुष्ठान पूर्ण होने पर प्रतिमाकल्प को स्वीकार किया जाता है। प्रतिमाधारी को सदा सूत्रार्थ चिंतनरूप ध्यान करना चाहिए, जो कि राग-द्वेष और मोह का विनाशक और मोक्ष का कारण होने से श्रेष्ठ है।

प्रतिमाकल्प धारण करने में समर्थ साधु को इसे अवश्य स्वीकार करना चाहिए, जो अयोग्य हों उन्हें केवल अभिग्रह विशेष ही ग्रहण करने चाहिए। इन सभी अभिग्रहों को अपनी शक्ति और जिनाज्ञा के अनुसार धारण करने वाले जीव शीघ्र ही संसार-सागर से मुक्त हो जाते हैं।

एकोनविंश पंचाशक

उन्नीसवें पंचाशक में 'तपविधि' का वर्णन किया गया है, जिससे कषायों का निरोध हो, ब्रह्मचर्य का पालन हो, जिनेन्द्रदेव की पूजा हो तथा भोजन का त्याग हो, वे सभी तप कहलाते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप के दो प्रकार हैं -

बाह्य तप- जो तप बाह्य जगत् में तप के रूप में दिखलाई दे, उसे बाह्य तप कहते हैं। इसके निम्नलिखित प्रकार हैं-

१. अनशन - भोजन का त्याग ही अनशन कहलाता है। यह दो प्रकार का है- यावत्कथित अर्थात् जीवनपर्यंत तक आहार का त्याग तथा इत्वर अर्थात् उपवास से लेकर छः माह तक के लिए आहार का त्याग करना।

२. उनोदरी - आवश्यकता से कम खाना उनोदरी है।

३. वृत्तिसंक्षेप - भिक्षाचर्या में विशेष अभिग्रह या नियम लेकर भिक्षा प्राप्त करना वृत्ति संक्षेप है।

४. रसत्याग - दूध, दही आदि सभी रसों या कुछ रसों का त्याग करना रस त्याग है।

५. कायक्लेश - शरीर को कष्ट देना कायक्लेश है। किसी भी आसन में बैठकर

सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि को सहना कायक्लेश है।

६. प्रतिसंलीनता - इंद्रिय, कषाय, योग का निरोध करना प्रतिसंलीनता है, अथवा एकांत में रहना विविक्त चर्या है।

आभ्यन्तर तप - ये तप प्रत्यक्षतः तप रूप में दिखलाई न देने के कारण आंतरिक तप कहे जाते हैं। इसके भी निम्नलिखित छः प्रकार हैं-

१. प्रायश्चित्त - अपने दुष्कृत्यों को गुरु के समक्ष विशुद्धभाव से कुछ भी छिपाए बिना स्वीकार करना या गुरु से उसके लिए दण्ड लेना प्रायश्चित्त है।

२. विनय - जिससे मानकषाय को दूर किया जाए वह विनय तप है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वचन, काय और उपचार- ये उसके सात भेद हैं।

३. वैयावृत्य - व्यावृत्त अर्थात् आहार आदि लाकर देने रूप सेवा करना। सेवा की वृत्ति और सेवा के कार्य ही वैयावृत्य हैं। आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शौक्ष और संघ की वैयावृत्य करनी चाहिए।

४. स्वाध्याय - अच्छी तरह मर्यादापूर्वक अध्ययन करना ही स्वाध्याय कहलाता है। इसके वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा - ये पांच भेद हैं।

५. ध्यान - चित्त की एकाग्रता ध्यान कहलाती है। इसके आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल- इन चार भेदों में क्रमशः प्रथम दो संसार के व अंतिम दो मोक्ष के कारण हैं। अंतिम दो ही ध्यान रूप तप हैं।

६. उत्सर्ग - त्याग करना उत्सर्ग है। द्रव्य और भाव. उत्सर्ग में क्रमशः गण, देह, आहार और उपाधि तथा चार कषाय का त्याग किया जाता है।

इस पंचाशक में उपर्युक्त बारह प्रकार के तपों के अतिरिक्त भी तपों के प्रकार बताए गए हैं, जो निम्न प्रकार हैं-

प्रकीर्ण तप - तीर्थकरों द्वारा उनकी दीक्षा, कैवल्यज्ञान-प्राप्ति और निर्वाण-प्राप्ति के समय जो तप किए गए थे, उनके अनुसार जो तप किए जाते हैं, वे प्रकीर्णक तप के अंतर्गत आते हैं।

तीर्थकर निर्गमन तप - जिस तप से तीर्थकर दीक्षा लेते हैं, वह तीर्थकर निर्गमन तप कहलाता है। जैसे सुमतिनाथ भगवान् ने, नित्यभक्त, वासुपूज्य भगवान् ने उपवास, पार्श्वनाथ और मल्लिनाथ भगवान् ने अष्टम व बाकी बीस तीर्थकरों ने छह तप करके दीक्षा ली थी।

चान्द्रायण तप - अनुक्रम और विपरीत क्रम से भिक्षा की दत्तियों, उपवासों या कवलों की संख्या में वृद्धि और कमी करने से चान्द्रायण तप होता है।

रोहिणी आदि विविध तप - रोहिणी, अम्बा, मन्दपुण्यिका आदि नौ देवताओं को उद्दिष्ट करके किए जाने वाले तप रोहिणी आदि तप कहलाते हैं।

सर्वांगसुंदर तप - शुक्ल पक्ष में एक-एक दिन के अंतर से आठ उपवास और पारणे के दिन आयम्बिल करना सर्वांगसुंदर तप है।

निरुजशिख तप - कृष्णपक्ष में सर्वांगसुंदर तप की भांति ही तप करना निरुजशिख तप कहलाता है। इसमें रोगी की सेवा करने का नियम लेना होता है।

परमभूषण तप - एक-एक दिन के अंतर से बत्तीस आयम्बिल करना, जिनप्रतिमा को तिलक लगाना, आभूषण चढ़ाना आदि परमभूषण तप है।

आपत्तिजनक तप - एक-एक दिन के अंतर से बत्तीस आयम्बिल करना आपत्तिजनक तप है। विशेषरूप से धर्मकार्यों में बल और वीर्य नहीं छिपाने पर ही यह तप होता है।

सौभाग्यकल्पवृक्ष तप - चैत्र महीने में एक-एक दिन के अंतर से उपवास करना और पारणे में मुनियों को दान-देकर सरस भोजन करना सौभाग्यकल्पवृक्ष तप है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप - इनके लिए तीन अष्टम (तीन तेलों) से तप विशेष होता है। इसमें प्रथम दर्शनगुण, दूसरा ज्ञानगुण और तीसरा चारित्रगुण की शुद्धि के लिए है।

इन तपों में जीव श्रद्धापूर्वक क्रिया करता है, इसलिए निदान अर्थात् आकांक्षारहित होता है। श्रद्धा से शुभ अध्यवसाय होता है और शुभ अध्यवसाय से बोधिबीज की प्राप्ति होती है, जो कि संसार से मुक्ति का कारण बनती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी एक विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न आचार्य रहे हैं। उनके द्वारा की गई साहित्य सेवा न केवल जैन साहित्य, अपितु सम्पूर्ण भारतीय वांग्मय में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। हरिभद्र ने जो उदात्त दृष्टि, असाम्प्रदायिक वृत्ति और निर्भयता अपनी कृतियों में प्रदर्शित की है, वैसी उनके पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती किसी भी जैन-जैनेतर विद्वान् ने शायद ही प्रदर्शित की हो। उन्होंने अन्य दर्शनों के विवेचन की एक स्वस्थ परम्परा स्थापित की तथा दार्शनिक और योग-परम्परा में विचार एवं वर्तन की जो अभिनव दशा उद्घाटित की वह विशेषकर

आज के युग के असाम्प्रदायिक एवं तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन के क्षेत्र में अधिक व्यवहार्य है।

प्रस्तुत ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद डॉ. दीनानाथ शर्मा ने किया है। सम्पादन कार्य में डॉ. कमलेश कुमार जैन, भूमिका-लेखन में डॉ. सुधा जैन एवं ग्रंथ की प्रकाशन व्यवस्था में डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय का अपेक्षित सहयोग मिला है, एतदर्थ हम इन सभी सहयोगियों के प्रति आभार प्रकट करते हैं। पुस्तक सम्बन्धी सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिए ग्रंथालयी ओम्प्रकाश सिंह निश्चय ही धन्यवाद के पात्र हैं।

श्रावकधर्मविधि प्रकरण की भूमिका

(ईस्वी सन् ८वीं शती)

प्रस्तुत कृति में आचार्य हरिभद्र ने श्रावक शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ को स्पष्ट करते हुए जिनवाणी का श्रवण करने वाले को श्रावक कहा है, किंतु यही पर्याप्त नहीं है, उनकी दृष्टि में श्रावक होने के लिए कुछ योग्यताएं भी अपेक्षित हैं। उन्होंने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो श्रावक धर्म का अधिकारी है अर्थात् श्रावक होने की पात्रता रखता है उसके द्वारा ही श्रावक धर्म का आचरण सम्भव है। अनधिकारी या अपात्र व्यक्ति के द्वारा किया गया श्रावक धर्म का परिपालन भी जिनेश्वरदेव की आज्ञाभंग के दोष से दूषित होने के कारण अधर्म ही बन जाता है। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में श्रावक धर्म का अधिकारी या पात्र वही व्यक्ति हो सकता है जो दूसरों से भयभीत नहीं होता है, क्योंकि धार्मिक चेतना का विकास निर्भय मानसिकता में ही सम्भव है। पुनः आचार्य कहते हैं कि श्रावक धर्म का पालन कोई भी व्यक्ति अपनी कुल परम्परा से प्राप्त शुद्ध आजीविका का अर्जन करते हुए कर सकता है। श्रावक धर्म की पात्रता के लक्षणों की चर्चा करते हुए वे यह बताते हैं कि धर्म के प्रति प्रीति रखना, न तो किसी की निंदा करना और न निंदा सुनना, अपितु निंदकों पर भी करुणा रखना श्रावक धर्म की आराधना के लिए आवश्यक है। हरिभद्र की दृष्टि में जिज्ञासुवृत्ति और चित्त की एकाग्रता भी धर्म साधना के लिए अन्य मुख्य अंग हैं। इसी प्रकार नियत समय पर चैत्यवंदन (देव-वंदन) गुरु की विनय, उचित आसन पर बैठकर धर्मश्रवण, स्वाध्याय में सतत उपयोग- ये सभी श्रावक धर्म के आचरण

के लिए आवश्यक हैं। आगे आचार्य हरिभद्र श्रावक-आचार की विशिष्टता बताते हुए कहते हैं कि अपने सदाचरण से सभी का प्रिय होना, अनिन्दित कर्म से आजीविका उपार्जन करना, आपत्ति में धैर्य रखना, यथाशक्ति तप, त्याग और धर्म का आचरण करना, यही श्रावक के मुख्य लक्षण हैं। उपर्युक्त गुणों से युक्त होने पर ही गृहस्थ धर्म का परिपालन सम्भव होता है, इन गुणों के अभाव में जिन-आज्ञा की विराधना होती है और श्रावक धर्म के परिपालन की पात्रता ही समाप्त हो जाती है।

गृहस्थ धर्म के अधिकारी के लक्षणों की चर्चा के उपरांत आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत कृति में इस बात पर अधिक बल दिया है कि पंच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूपी श्रावक धर्म का मूल आधार सम्यक्त्व है। प्रस्तुत कृति में आचार्य ने सम्यक्त्व के संदर्भ में विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। सर्वप्रथम उन्होंने सम्यक्त्व के क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक - ऐसे तीन प्रकारों की चर्चा की है। इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी बताया है कि जो न स्वयं मिथ्यात्व का सेवन करता है और न करवाता है और न करने वाले का अनुमोदन करता है वही सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। मिथ्यात्व के अनेकरूपों की चर्चा करते हुए आचार्य ने सर्वप्रथम मुक्ति के निमित्त सरागी लौकिक देवताओं की उपासना को मिथ्यात्व प्रतिपादित किया है। इन लौकिक देवों की पुष्पमाला आदि से पूजा करना, वस्त्रादि से उनका सत्कार करना तथा मानसिक रूप से उनके प्रति प्रीति भाव रखना - हरिभद्र की दृष्टि में ये सभी मिथ्यात्व के लक्षण हैं। इसी प्रकार उन्होंने वीतराग लोकोत्तमदेव के लक्षण को लौकिक देवों पर घटित करना भी मिथ्यात्व माना है, उनकी दृष्टि में शुद्ध धर्माचरण से विमुख तापस, शाक्यपुत्रीय श्रमण आदि अन्य तैर्थिकों से संसर्ग रखना, उनकी प्रशंसा करना और उनके आदेशों का पालन करना भी मिथ्यात्व के लक्षण हैं। मात्र यही नहीं आचार्य ने स्पष्ट रूप से जैन मुनि के वेश को धारण करने वाले, किंतु जिन-आज्ञा का सम्यक् रूप से पालन नहीं करने वाले पार्श्वस्थ आदि जैनाभासों के वंदन, पूजन को भी मिथ्यात्व ही माना है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने शिथिलाचारी, खिन्न मन से मुनि जीवन जीने वाले, आचारहीन, नित्य एक स्थान पर रहने वाले, निमित्त आदि विद्याओं के लोकरंजन करने वाले, स्वेच्छाचारी जैन श्रमणों को भी वंदनीय नहीं माना है, उनकी दृष्टि में ऐसे जैन श्रमणों के वंदन आदि से भी मिथ्यात्व की ही अभिवृद्धि होती है। आचार्य के अनुसार ऐसे साधुओं का संसर्ग भी सम्यक्त्व का नाशक माना गया है। इसी क्रम में स्वेच्छाचारी को परिभाषित करते हुए उन्होंने बताया है कि जो आगम विरुद्ध आचरण करता है और जिन वचनों की आगम विरुद्ध मनमाने ढंग से व्याख्याएं

करता है, वह स्वेच्छाचारी है। साथ ही ऐसा तथाकथित श्रमण ऋद्धि-गौरव, सुख-गौरव और रस-गौरव में डूबा रहता है। मात्र यही नहीं, वह चैत्यादि के निर्माण में और उनके निमित्त से धन-धान्य की वृद्धि करने हेतु कुओं, बगीचा आदि बनवाने में प्रवृत्त रहता है तथा श्रावकों पर मनमाने ढंग से कर आदि लगाकर सम्पत्ति एकत्र करता है। इस प्रकार आगम विरुद्ध आचरण करने वाले, जिन-वचन की मनमाने ढंग से अन्यथा व्याख्या करने वाले स्वच्छंद मुनियों के उपाश्रय आदि में जाकर धर्म श्रवण आदि क्रियाएं भी हरिभद्र की दृष्टि में मिथ्यात्व का ही कारण हैं। श्रद्धावान श्रावक ऐसे स्वेच्छाचारी मुनियों के सम्पर्क में आकर निश्चित ही अपने सम्यक्त्व को दूषित करता है। सुविहितों और स्वेच्छाचारियों के उपदेशों में विसंवाद होने के कारण उसके मन में संदेह उत्पन्न होता है। प्रस्तुत कृति में आचार्य हरिभद्र तो यहां तक कहते हैं कि ऐसे स्वेच्छाचारी मुनियों के चैत्य, उपाश्रय आदि स्थान भी मिथ्यात्व के हेतु होने से अधर्मायतन ही हैं। श्रावक को इन साधुओं के सम्पर्क आदि को भी मिथ्यात्व का जनक जानकर त्याग करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने न केवल छद्मवेशी मतावलम्बी तापसों आदि के सम्पर्क, सत्कार, स्तुति आदि को मिथ्यात्व का कारण माना, अपितु उन जैन मुनियों के जो आगम विरुद्ध आचरण करते हैं, के सम्पर्क, सत्कार, सम्मान आदि को भी मिथ्यात्व का कारण माना है और सद्गृहस्थ को उनसे दूर रहने का ही निर्देश दिया है।

आचार्य हरिभद्र श्रावक धर्म के आधारभूत तत्त्व सम्यक्-दर्शन की इस व्याख्या के प्रसंग में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यदि स्वयं इन शिथिलाचारियों के उपदेश का प्रतिषेध करने में असमर्थ हो तो, उनके उपदेश सुनने की अपेक्षा अपने कानों को बंद कर लेना ही अच्छा है। इस प्रकार उन्होंने गृहस्थ साधकों को स्पष्ट रूप से यह निर्देश दिया है कि मनसा, वाचा और कर्मणा न तो मिथ्यात्व का सेवन करे, न कराए और न मिथ्यात्व का सेवन करने वाले का अनुमोदन करे। आचार्य अनुमोदन की सूक्ष्मता से चर्चा करते हुए यहां तक कहते हैं कि मिथ्यादृष्टियों के मध्य में निवास करना, उनके साथ खान-पान करना और उनके विचारों का प्रतिश्रवण करना भी उस स्थिति में मिथ्यात्व का अनुमोदन हो जाता है जब उससे सम्यक्त्व के दूषित होने की सम्भावना हो, यद्यपि इस चर्चा के प्रसंग में हरिभद्र यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि मात्र साथ रहने अथवा खान-पान आदि साथ-साथ करने से मिथ्यात्व का अनुमोदन नहीं हो जाता है। आचार्य की दृष्टि में इन परिस्थितियों में मिथ्यात्व का अनुमोदन तभी होता है, जब व्यक्ति स्वयं उनमें सम्मिलित होकर उन्हें अच्छा समझने लगता है। मात्र परस्पर एक दूसरे के साथ रहने आदि से ही किसी को एक

दूसरे का समर्थक नहीं माना जा सकता है। नगर में राजा, अमात्य, श्रेष्ठी, कलाजीवी, वणिक, मालाकार, स्वर्णकार एवं सेवकजन सब साथ-साथ रहते हैं, फिर भी उन्हें एक दूसरे का समर्थक नहीं कहा जाता है। वस्तुतः संवास या परस्पर भोग-उपभोग में अनुमति सम्भव नहीं है। आचार्य तर्क देते हैं कि यदि यह हो तो फिर सम्यक्त्व में भी उन सबकी अनुमति माननी होगी। पुनः ऐसी स्थिति में अभव्यजनों का भी सम्यक्त्व में अनुमोदन मानना होगा, जिसे जैन परम्परा स्वयं स्वीकार नहीं करती है। अंत में आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि सम्यक्त्व के साधक श्रावक को मिथ्यात्व से विरत होकर गुरु के समीप वीतराग अरहंत परमात्मा मेरे देव अर्थात् आराध्य हैं, अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का परिपालन करने वाले साधु ही मेरे गुरु हैं और अहिंसा ही धर्म है- ऐसी प्रतिपत्ति स्वीकार करनी चाहिए। सम्यक्त्व की चर्चा के प्रसंग में आचार्य हरिभद्र ने आठ दर्शनाचार्यों का उल्लेख भी किया है।

प्रस्तुत कृति में आचार्य ने न केवल आठ दर्शनाचार्यों का उल्लेख किया है, अपितु उनकी विस्तृत विवेचना भी की है और इस प्रसंग में उन्होंने जैनधर्मदर्शन के अनेक महत्वपूर्ण प्रसंगों को उठाया भी है। निश्शकितत्व की चर्चा करते हुए पूर्व पक्ष के रूप में ये प्रश्न उठाते हैं कि जीवों के उपयोग लक्षण समान हैं, फिर भी एक को भव्य और दूसरे को अभव्य कैसे माना जा सकता है? अथवा एक परमाणु-पूरित प्रदेश (क्षेत्र) में दूसरे परमाणु अवगाहन कैसे कर सकते हैं और उसी प्रदेश में सर्वव्यापी होकर कैसे रहते हैं? क्योंकि परमाणु से सूक्ष्म तो कुछ होता ही नहीं है और प्रत्येक परमाणु एक आकाश प्रदेश का अवगाहन करके रहता है, अतः एक ही आकाश प्रदेश में अनेक परमाणु सर्वव्यापी कैसे रह सकते हैं? हरिभद्र की दृष्टि में एक देश विषयक अर्थात् आंशिक शंकाएँ हैं। इसी क्रम में गणपिटक (जैन आगम) सामान्य पुरुषों के द्वारा रचित है अथवा असर्वज्ञ के द्वारा रचित है? ऐसी शंका करना सर्व विषयक सर्वांश शंका है, क्योंकि इससे सम्यक्त्व का आधार ही समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार निराकांक्षा की चर्चा करते हुए बताया गया है कि कर्मों का फल मिलेगा या न मिलेगा, इस प्रकार का विचार करना आकांक्षा है। इसी प्रसंग में आचार्य ने यह भी कहा है, स्वधर्म का त्याग कर दूसरे धर्म दर्शनों की इच्छा करना भी आकांक्षा का ही रूप है। किसी अन्य धर्म की आकांक्षा करना एक देश अर्थात् आंशिक आकांक्षा है। इससे भिन्न सभी मतों की आकांक्षा करना या यह मानना कि वे सभी धर्म या दर्शन मोक्ष की ओर ही ले जाते हैं, सर्व विषयक आकांक्षा है। यहां आचार्य ने शंका के प्रसंग में 'पेयगाई' और आकांक्षा के प्रसंग में 'राजा और अमात्य' की कथा का निर्देश

दिया है। यद्यपि प्रस्तुत कृति में हमें कहीं भी ऐसे संकेत उपलब्ध नहीं होते हैं, जिससे यह कथा क्या है, इसका विवेचन कर सकें।

इसी क्रम में निर्विचिकित्सा अंग की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वि-चिकित्सा अर्थात् घृणा भी दो प्रकार की मानी गई है, एक देश विषयक और दूसरी सर्व विषयक। वि-चिकित्सा को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने कहा है कि चैत्यवंदन व्रतपालन आदि अनुष्ठान सफल होंगे या निष्फल होंगे अथवा इनका फल मिलेगा या नहीं? ऐसी कुशंका को विचिकित्सा कहा जाता है, किंतु सामान्यतया विचिकित्सा का तात्पर्य जैन साधु के मलिन शरीर या वस्त्रादि को देखकर घृणा करना। पूर्व में स्वयं आचार्य हरिभद्र ने विचिकित्सा के इसी अर्थ का निर्देश किया है, किंतु प्रस्तुत प्रसंग में उन्होंने विचिकित्सा का एक नया अर्थ दिया है। विचिकित्सा के संदर्भ में आचार्य ने श्रद्धाहीनश्रावक और विद्या की साधना करने वाले चोर का उदाहरण तथा प्रत्यन्तवासी श्रावक पुत्री की कथा का निर्देश भी किया है।

अमूढदृष्टि दर्शनाचार का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने बताया है कि बौद्ध आदि इतर धर्मालम्बियों की विभिन्न प्रकार की साधना विधियों के प्रति आकर्षित नहीं होना एवं उनके पूजा, सत्कार आदि को देखकर भ्रान्त नहीं होना ही अमूढदृष्टि हैं। विशिष्ट तप करने वाले, वृद्ध, ग्लान, रोगी, शैक्ष आदि की सेवा शुश्रूषा करने वाले विनयवान एवं स्वाध्यायी मुनियों की प्रशंसा करना अपबृंहण है। इसी प्रकार धर्ममार्ग से च्युत होते हुए व्यक्तियों को पुनः धर्ममार्ग में स्थिर करना स्थिरीकरण है। वस्तुतः यह धर्मसाधना के क्षेत्र में खिन्न हुए व्यक्तियों को प्रोत्साहित कर उन्हें साधना में प्रतिकेत करना है। स्वधर्मीवात्सल्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि स्वधर्मी जनों के प्रति वात्सल्य या अनुराग रखना, कष्ट के समय उनकी सहायता करना स्वधर्मीवात्सल्य है। आचार्य ने अमूढदृष्टि के प्रसंग में सुलसा श्राविका की, उपबृंहण के संदर्भ में राजा श्रेणिक की, स्थिरीकरण के प्रसंग में आषाढाचार्य और वात्सल्य के प्रसंग में वज्रस्वामी की कथाओं का निर्देश किया है।

अंतिम प्रभावना अंग की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि विभिन्न प्रकार की लब्धियों (ऋद्धियों), विविध प्रकार की विद्याओं (तंत्र-मंत्र आदि), अष्टांगज्योतिष निमित्तशास्त्र आदि में पारंगत होकर उनके माध्यम से जिनशासन की प्रभावना करना सम्यक-दर्शन का प्रभावना अंग है।

आचार्य ने यहां यह भी बताया है कि सम्यक्त्व का बोध होने पर भी व्रत प्रतिपत्ति

अर्थात् अणुव्रतों आदि को ग्रहण करने की भावना वैकल्पिक हो सकती है, किंतु ऐसे व्यक्ति को भी सेवा एवं स्वाध्याय आदि तो नियम से करना ही चाहिए। आचार्य यह भी मानते हैं कि एक बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर संसार समुद्र को पार करने के लिए नौका के समान व्रत आदि भी कालान्तर में अवश्य ही प्राप्त होते हैं। सम्यक्त्व की चर्चा के उपरांत प्रस्तुत कृति में पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों की चर्चा की गई है। इस संदर्भ में आचार्य हरिभद्र ने तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण न करके उपासकदशा के क्रम का अनुकरण किया है। मात्र अंतर यह है कि यहां उपासकदशा में अणुव्रत एवं शिक्षाव्रत ऐसा द्विविध वर्गीकरण है, वहां आचार्य हरिभद्र ने कालान्तर में विकसित अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत ऐसा त्रिविध वर्गीकरण किया है। श्रावक के व्रतों की इस चर्चा के प्रसंग में प्रस्तुत कृति में आचार्य हरिभद्र ने श्रावक को किस व्रत का परिपालन, कितने योगों और कितने कारणों से करना होता है, इसकी विस्तृत चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र ने करण और योग के संदर्भ में कुल भंगों की संख्या ४९ मानी है, उसको भी अतीत, अनागत और वर्तमान के सप्त गुणित करने पर कुल १४७ भंग माने हैं और यह भी बताया है कि भरतक्षेत्र के मध्यखण्ड के बाहर अनुमतिनिषेध के तीन भंग कम करने पर स्वयं के विषय में १४४ भंग होते हैं। यहां यह भी चर्चा की गई है कि भरतक्षेत्र के बाहर श्रावकों के भी सर्वव्रत साधु के समान ही तीनकरण और तीनयोग से ही होते हैं। ज्ञातव्य है कि योग (साधन) तीन हैं- १. मन, २. वचन और ३. काया। इनके संयोग से कुल सात भंग (विकल्प) होते हैं। यथा- १. मन, २. वचन, ३. काया, ४. मन और वचन, ५. मन और काया, ६. वचन और काया तथा ७. मन, वचन और काया। इसी प्रकार करण भी तीन हैं- १. करना, २. कराना और ३. अनुमोदन। इनके भी सांयोगिक भंग सात ही होंगे यथा- १. करना, २. कराना, ३. अनुमोदन, ४. करना और कराना, ५. करना और अनुमोदन करना, ६. कराना और अनुमोदन करना तथा ७. करना, कराना एवं अनुमोदन करना। इस प्रकार सात योग और सात करण को परस्पर गुणित करने पर उनपचास (७X७=४९) भंग होते हैं। ये उनपचास भंग भी तीन करणों की अपेक्षा से एक सौ सैंतालीस (४९ X ३ = १४७) भंग हो जाते हैं।

इस चर्चा के पश्चात् प्रस्तुत कृति में आचार्य ने श्रावक के बारह व्रतों और उनके प्रत्येक के अतिचारों की विस्तृत चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र ने भी सामान्यतया तो उन्हीं अतिचारों की चर्चा की है, जो अन्य ग्रंथों में भी वर्णित हैं। हरिभद्र के द्वारा वर्णित अतिचारों की यह सूची उपासकदशा से बहुत कुछ मिलती है, किंतु कुछ अवधारणाओं को

लेकर हरिभद्र का मतवैभिन्य भी दृष्टिगत होता है। उदाहरण के रूप में जहां छठे दिग्ब्रत की चर्चा में जहां अन्य आचार्यों ने दूसरे गुणव्रतों के समान इन गुणव्रतों को भी आजीवन के लिए ग्राह्य माना है, वहां आचार्य हरिभद्र ने दिग्ब्रत का नियम चातुर्मास या उससे कुछ अधिक महीनों के लिए ही बताया है। आश्चर्य यह भी है कि उन्होंने दिग्ब्रत के सर्वमान्य अतिचारों यथा-ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् दिशा की मर्यादा का अतिक्रमण आदि की चर्चा के साथ ही साथ निर्धारित क्षेत्र के बाहर आनयन और प्रेषण को भी दिग्ब्रत का अतिचार माना है। सामान्यतया इनकी चर्चा देशावकाशिक नामक शिक्षाव्रत में की जाती है। शेष गुणव्रतों की चर्चा में कोई विशिष्ट अंतर नहीं देखा जाता है। चार शिक्षाव्रतों का विवेचन भी उन्होंने उपासकदशा की परम्परा के अनुसार किया है। अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया है कि जहां पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत आजीवन के लिए ग्रहण किए जाते हैं, वहां शिक्षाव्रत निश्चित समय के अथवा दिनों के लिए ही ग्रहण किए जाते हैं। श्रावक के १२ व्रतों की इस चर्चा के पश्चात् उन्होंने संलेखना का उल्लेख तो किया है, किंतु उसे श्रावक का आवश्यक कर्तव्य नहीं माना है।

ग्रंथ के अंत में उन्होंने श्रावक के ऐसे कुछ विशिष्ट कर्तव्यों की भी चर्चा की है, जिन पर सम्यक्त्व एवं बारह व्रतों की चर्चा के प्रसंग में कोई विचार नहीं किया गया है। इन विशिष्ट कर्तव्यों की चर्चा करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि श्रावक को उसी नगर में निवास करना चाहिए, जहां जिन मंदिर हो, साधुओं का आगमन होता हो और श्रावकों का निवास हो। इसी क्रम में श्रावक के नित्य कर्तव्यों की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि श्रावक को निद्रा सरे जागृत होते ही नमस्कार मंत्र का पाठ करना चाहिए और व्रतधारी श्रावक के लिए आचरणीय व्रतों का चिंतन करना चाहिए, फिर जिन मंदिर में जाकर जिनप्रतिमा की पूजा-अर्चना कर चैत्यवंदन करना चाहिए। उसके पश्चात् गुरु के समीप जाकर उनकी उचित सेवा श्रुषूषा करना चाहिए और उनके उपदेश को सुनकर यथाशक्ति त्याग, प्रत्याख्यान करना चाहिए, फिर अपना व्यवसाय एवं भोजन आदि करना चाहिए। संध्या के समय भी चैत्यवंदन और गुरुजनों का वंदन करना चाहिए। जीवन की संध्या बेला में पुत्र को अपने स्थान पर स्थापित करके विशेष रूप से धर्म-साधना करनी चाहिए, ताकि जीवन के अंत में भवविरह अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो सके। बस 'भवविरह' इस अंतिम

निर्देश के साथ प्रस्तुत कृति समाप्त होती है। कृति के अंत में 'भवविरह' का निर्देश होने से यह भी सुनिश्चित हो जाता है कि प्रस्तुत कृति याकिनीसूनु आचार्य हरिभद्र की ही कृति है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने अपने तीन ग्रंथों श्रावकधर्मपंचाशक, श्रावकप्रज्ञप्ति (सावयपत्रति) तथा प्रस्तुत कृति के श्रावकधर्मविधिप्रकरण में श्रावक धर्म का विवेचन किया है। जहां एक ओर श्रावकधर्मपंचाशक मात्र ५० गाथाओं की संक्षिप्त कृति है, वहीं दूसरी ओर श्रावकप्रज्ञप्ति लगभग ४०० गाथाओं में रचित एक विस्तृत ग्रंथ है। इसके विपरीत श्रावकधर्मविधि प्रकरण १२० गाथाओं में रचित एक मध्यम आकार की कृति है। इस कृति का वैशिष्ट्य यही है कि इसमें जहां श्रावक के व्रतों की चर्चा के साथ-साथ सम्यक्त्व की चर्चा पर्याप्त विस्तार से की गई है।

जहां तक मेरी जानकारी है, अभी तक इस ग्रंथ का कोई भी अनुवाद उपलब्ध नहीं था। प्राकृत भारती अकादमी ने इस ग्रंथ का हिन्दी व अंग्रेजी अनुवाद करवाकर उसे प्रकाशित करने का एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ और प्राकृत भारती अकादमी ने मिलकर आचार्य हरिभद्र के विभिन्न ग्रंथों की अनुवाद सहित प्रकाशन की योजना बनाई है वह सफल हो और मध्ययुग के इस उदारचेता समदर्शी महर्षि आचार्य हरिभद्र की कृतियों से जन-जन लाभान्वित हो यही एक मात्र अपेक्षा है। अंत में मैं प्राकृत भारती के निदेशक महोपाध्याय विनयसागरजी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ कि उन्होंने प्रस्तुत कृति की भूमिका के लिए न केवल मुझे आग्रह किया, अपितु मेरी व्यक्तिगत व्यस्तताओं के कारण दीर्घकाल तक इसकी प्रतीक्षा भी की। प्रस्तुत कृति के अनुवाद में अपेक्षित परिष्कार एवं संशोधन मैंने अपनी अल्पमति के अनुसार करने का प्रयत्न किया है, फिर भी भूलें रह जाना सम्भव है, अतः विद्वानों से अनुरोध है कि वे अपने सुझावों से हमें लाभान्वित करें, ताकि भविष्य में और भी अपेक्षित परिमार्जन किया जा सके।

प्रवचन सारोद्धार की भूमिका (ई.सन् १३वीं शती)

प्रवचनसारोद्धार जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, जैन धर्म एवं दर्शन का सारभूत, किंतु आकर ग्रंथ है। इसका विषय वैविध्य एवं कर्ता की व्यापक संग्राहक दृष्टि, इसे जैनविद्या के लघु विश्व-कोष की श्रेणी में लाकर रख देती है। वस्तुतः, यह एक संग्रहग्रंथ है, जिसमें जैनविद्या के विविध आयामों को समाहित करने का लेखक ने अनुपम प्रयास किया। यद्यपि इसके पूर्व आचार्य हरिभद्र सूरि (विक्रम संवत् की आठवीं शती) ने अपने ग्रंथ अष्टक षोडशक, विशिका, पंचाशक आदि में जैन धर्म, दर्शन और साधना के विविध पक्षों को समाहित करने का प्रयत्न किया है, फिर भी विषय वैविध्य की अपेक्षा से ये ग्रंथ भी इतने व्यापक नहीं है, जितना प्रवचनसारोद्धार है। इसमें २७६ द्वार हैं और प्रत्येक द्वार एक-एक विषय का विवेचन प्रस्तुत करता है, इस प्रकार प्रस्तुत कृति में जैन विद्या से सम्बंधित २७६ विषयों का विवेचन है। इससे इसका बहुआयामी स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत कृति १५९९ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है। मात्रा गाथा (श्लोक) क्रमांक ९७१ संस्कृत में है। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। छन्दों की अपेक्षा से इसमें आर्या छन्द की ही प्रमुखता है, यद्यपि अन्य छन्द भी उपलब्ध होते हैं। इस कृति के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा में ई.पू. छठी शती से लेकर ईसा की तेरहवीं शती तक लगभग दो हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में प्राकृत में ग्रंथ लेखन की जीवित परम्परा रही है। मात्र यही नहीं, इसके पश्चात् आज तक भी प्राकृत भाषा में ग्रंथ लिखे जा रहे हैं, जो जैन विद्वानों की प्राकृत के प्रति प्रतिबद्धता के सूचक हैं। प्रस्तुत कृति के लेखक ने इसके अतिरिक्त अनन्तनाहचरियं नामक एक अन्य ग्रंथ भी प्राकृत भाषा में लिखा है, इससे लेखक का प्राकृत भाषा पर अधिकार सिद्ध होता है। साथ ही प्रस्तुत कृति में विविध विषयों का संग्रह उसके कर्ता की बहुश्रुतता का भी परिचय देता है।

प्रवचनसारोद्धार के रचयिता

प्रवचनसारोद्धार नामक प्रस्तुत कृति के रचयिता आचार्य नेमिचंद्रसूरि हैं, किंतु ये नेमिचंद्रसूरि कौन हैं और कब हुए? इस सम्बंध में थोड़ी विस्तृत विवेचना अपेक्षित है।

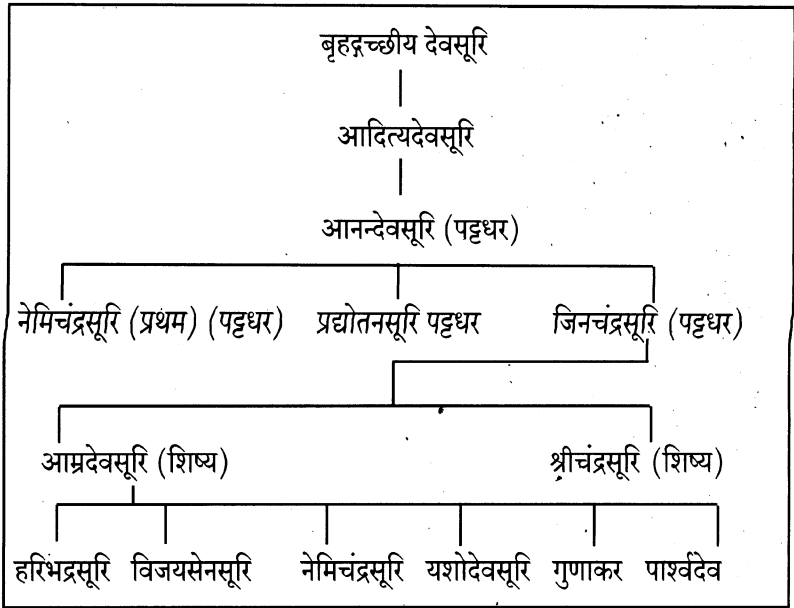
यद्यपि प्रवचनसारोद्धार की कर्ता प्रशस्ति में ग्रंथकार ने इसके रचना काल का

उल्लेख नहीं किया है, किंतु उन्होंने अपना और अपनी गुरु परम्परा का संक्षिप्त, किंतु स्पष्ट निर्देश किया है। कर्ता प्रशस्ति में वे लिखते हैं 'धर्म रूपी पृथ्वी का उद्धार करने में महावराह के समान जिनचंद्रसूरि के शिष्य आम्रदेवसूरि हुए। उनके शिष्य नेमिचंद्रसूरि, जो विजयसेन गणधर से कनिष्ठ और यशोदेवसूरि से ज्येष्ठ थे, ने सिद्धांत रूपी रत्नाकर से रत्नों का चयन करके प्रवचनसारोद्धार की रचना की।' इस प्रकार प्रवचनसारोद्धार की इस कर्ता प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु परम्परा में केवल अपने प्रगुरु जिनचंद्रसूरि और गुरु आम्रदेवसूरि के ही नामों का निर्देश किया है, उनके गच्छ आदि का विस्तृत विवरण नहीं दिया है, किंतु अपने द्वारा ही रचित अनन्तनाथचरित्र की कर्ता प्रशस्ति में अपनी गच्छ परम्परा और गुरु परम्परा का अधिक विस्तृत विवरण दिया है। फिर भी उपरोक्त दोनों प्रशस्तियों के सांसारिक जीवन के सम्बंध में कोई भी विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है।

अनन्तनाथचरित से इतना विशेष ज्ञात होता है कि वे श्वेताम्बर परम्परा के बृहद्गच्छ में दीक्षित हुए थे। उसमें इस बृहद्गच्छ का प्रारम्भ देवसूरि से बताया गया है। इन देवसूरि के शिष्य आदित्यदेवसूरि हुए। आदित्यदेवसूरि के शिष्य आनंददेवसूरि और आनंददेवसूरि के शिष्य नेमिचंद्रसूरि (प्रथम) हुए। उसमें इन्हें सिद्धांत के रहस्यों का ज्ञाता भी कहा गया है। इन्होंने लघुवीरचरित, उत्तराध्ययनवृत्ति, आख्यानक-मणिकोष एवं रत्नचूडचरित आदि ग्रंथों की रचना की थी। प्रशस्ति में इन नेमिचंद्रसूरि का जिस प्रकार से गुणगान किया गया है, उससे यही सिद्ध होता है प्रवचनसारोद्धार के कर्ता ये नेमिचंद्रसूरि (प्रथम) नहीं है, क्योंकि ग्रंथकार प्रशस्ति में स्वयं अपनी प्रशंसा इस रूप में नहीं कर सकता है। इसी प्रशस्ति में आगे आनन्ददेवसूरि के दूसरे दो शिष्यों प्रद्योतनसूरि और जिनचंद्रसूरि का उल्लेख भी हुआ है और इन जिनचंद्रसूरि के आम्रदेवसूरि और श्रीचंद्रसूरि ऐसे दो शिष्य हुए। ये आम्रदेवसूरि आख्यानक-मणिकोष की वृत्ति के रचयिता हैं। प्रशस्ति के अनुसार इन्हीं आम्रदेवसूरि के शिष्यों में हरिभद्रसूरि, विजयसेनसूरि, यशोदेवसूरि और नेमिचंद्रसूरि (द्वितीय) आदि हुए। यही नेमिचंद्रसूरि (द्वितीय) इस प्रवचनसारोद्धार के कर्ता हैं।

अपने अनन्तनाथचरित की ग्रंथ प्रशस्ति में इन नेमिचंद्रसूरि ने अपने को मन्दमति कहा है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि ये नेमिचंद्रसूरि (द्वितीय) ही उस अनन्तनाथचरित एवं प्रवचनसारोद्धार नामक प्रस्तुत कृति के कर्ता हैं। नेमिचंद्रसूरि ने उस प्रशस्ति में अपने जिन अन्य गुरु भ्राताओं का भी निर्देश किया है, उनमें यशोदेवसूरि को लक्षण, छन्द,

अलंकार, तर्क, साहित्य और सिद्धांत का ज्ञाता कहा गया है। ज्ञातव्य है कि ये यशोदेवसूरि ही प्रस्तुत कृति के संशोधक भी थे। इस समग्र चर्चा के आधार पर प्रस्तुत कृति के कर्ता नेमिचंद्रसूरि (द्वितीय) की जो गुरु परम्परा निर्धारित होती है, उसे निम्न सारिणी के द्वारा स्पष्टतया समझा जा सकता है-



प्रस्तुत कृति का रचनाकाल

यद्यपि प्रवचनसारोद्धार की प्रशस्ति में उसके रचनाकाल का स्पष्ट निर्देश नहीं है, किंतु उसके कर्ता नेमिचंद्रसूरि (द्वितीय) का सत्ताकाल विक्रम की १२वीं शताब्दि के उत्तरार्ध से लेकर १३वीं शताब्दि के पूर्वार्ध तक सुनिश्चित है। उन्होंने अपने अनन्तनाहचरियं में उसके रचनाकाल का भी स्पष्ट निर्देश किया है। ग्रंथ के रचनाकाल के सम्बंध में ग्रंथ की अंतिम प्रशस्ति में उन्होंने 'रसचंदसूरसंखे वरिसे विक्कमनिवाओ वड्ढते' ऐसा स्पष्ट स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होता है कि इस ग्रंथ की रचना वि.सं. १२१६ में हुई थी। इस कृति में कुमारपाल के राज्यकाल का भी स्पष्ट निर्देश है। इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि उन्होंने जब वि.सं. १२१६ में अनन्तनाहचरियं की रचना की थी, तब गुजरात में कुमारपाल शासन कर रहा था। अतः उनका सत्ताकाल विक्रम की १२वीं शताब्दि के

उत्तरार्ध से १३वीं शताब्दि के पूर्वार्ध तक सिद्ध होता है। ईस्वी सन् की दृष्टि से तो उनका सत्ताकाल ईसा की १२वीं शताब्दि सुनिश्चित है।

प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार सिद्धसेनसूरि ने इसकी टीका की रचना विक्रम संवत् १२४८ मतान्तर से विक्रम संवत् १२७८ में की थी। टीका प्रशस्ति से इस टीका के रचनाकाल का शब्दों के माध्यम से 'करिसागररविसंख्ये' ऐसा निर्देश किया गया है। यहां यह मतभेद इसलिए है कि सागर शब्द से कुछ लोग चार और कुछ लोग सात की संख्या का ग्रहण करते हैं। सागर से चार संख्या का ग्रहण करने पर टीका का रचनाकाल वि.सं. १२४८ और सात संख्या ग्रहण करने पर टीका का रचनाकाल वि.सं. १२७८ निर्धारित होता है। इनमें से चाहे कोई संवत् निश्चित हो, किंतु इतना निश्चित है कि विक्रम की तेरहवीं शती के उत्तरार्ध में यह टीका ग्रंथ निर्मित हो चुका था। मेरी दृष्टि में यदि प्रवचनसारोद्धार बृहद्गच्छीय नेमिचंद्रसूरि (द्वितीय) के जीवन के उत्तरार्ध की और अनन्तनाहचरियं के बाद की रचना है, तो वह विक्रम संवत् १२१६ के पश्चात् लगभग वि.सं. १२२५ के आसपास कभी लिखा गया होगा, क्योंकि अनन्तनाहचरियं को समाप्त करके इसे लिखने में १०-१५ वर्ष अवश्य लगे होंगे। पुनः मूलग्रंथ और उसकी टीका के रचनाकाल के मध्य भी कम से कम १५-२० वर्ष का अंतर तो अवश्य ही मानना होगा। मूलग्रंथ और उसकी टीका उसी स्थिति में समकालिक हो सकते हैं, जबकि टीका या तो स्वोपज्ञ हो या अपने शिष्य या गुरुभ्राता के द्वारा लिखी गई हो।

प्रस्तुत कृति के टीकाकार सिद्धसेनसूरि नेमिचंद्रसूरि की बृहद्गच्छीय देवसूरि की परम्परा से भिन्न चंद्रगच्छीय अभयदेवसूरि की शिष्य परम्परा के थे। टीकाकार सिद्धसेनसूरि की गुरु परम्परा इस प्रकार है-

चंद्रगच्छीय अभयदेवसूरि

धनेश्वरसूरि (मुञ्जनृप के समकालीन)

अजितसिंहसूरि

वर्धमानसूरि

देवचंद्रसूरि

चंद्रप्रभ (मुनिपति)

भद्रेश्वरसूरि

अजितसिंहसूरि

देवप्रभसूरि (प्रमाणप्रकाश एवं श्रेयांसचरित्र के कर्ता)

सिद्धसेनसूरि (प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार)

ज्ञातव्य है उस काल में जब ग्रंथों की हाथ से प्रतिलिपि तैयार कराकर उन्हें प्रसारित किया जाता था, तब उन्हें दूसरे लोगों के पास पहुंचने में पर्याप्त समय लग जाता था। अतः प्रस्तुत कृति से सिद्धसेनसूरि को परिचित होने और पुनः उस पर टीका लिखने में पच्चीस-तीस वर्ष का अंतराल तो अवश्य ही रहा होगा। अतः यदि टीका विक्रम की तेरहवीं शती के पूर्वार्ध के द्वितीय चरण विक्रम संवत् १२४८ में लिखी गई है, तो मूलकृति कम से कम विक्रम की तेरहवीं शती के प्रथम चरण अर्थात् वि.सं. १२२५ में लिखी गई होगी। अतः प्रवचनसारोद्धार की रचना १२२५ के आसपास कभी हुई होगी।

प्रवचनसारोद्धार मौलिक रचना है या मात्र संग्रहग्रंथ?

प्रवचनसारोद्धार आचार्य नेमिचंद्रसूरि की मौलिक कृति है या एक संकलन ग्रंथ है, इस प्रश्न का उत्तर देना अत्यंत कठिन है, क्योंकि प्रस्तुत ग्रंथ में ६०० से अधिक गाथाएं ऐसी हैं, जो आगम-ग्रंथों, निर्युक्तियों, भाष्यों, प्रकीर्णकों, प्राचीन कर्मग्रंथों एवं जीवसमास आदि प्रकरणग्रंथों में उपलब्ध हो जाती हैं। प्रवचनसारोद्धार की भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिण्डवाड़ा से प्रकाशित प्रति में उसे विद्वान सम्पादक मुनि श्री पद्मसेनविजय जी और मुनि श्रीचंद्रविजय जी ने इसकी लगभग ५०० गाथाएं जिन-जिन ग्रंथों से ली गई हैं, उनके मूलस्रोत का निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त भी अनेक गाथाएं ऐसी हैं, जो आवश्यकसूत्र की हरिभद्रीयवृत्ति आदि प्राचीन टीका ग्रंथों से उद्धृत हैं।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मेरे शिष्य डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय की सूचना के अनुसार प्रवचनसारोद्धार में सात प्रकीर्णकों की भी लगभग २२ गाथाएं मिलती हैं। कहीं-कहीं पाठभेद को छोड़कर ये गाथाएं भी प्रवचनसारोद्धार में समान रूप से भी उपलब्ध होती हैं। इसमें आचारांगनिर्युक्ति की १, अंगुलसप्तति की ३, आवश्यकनिर्युक्ति की ७१, आवश्यक भाष्य की ७, उत्तराध्ययन की १२, उत्तराध्ययन निर्युक्ति की १३, ओघनिर्युक्ति की २२, ओघनिर्युक्तिभाष्य की १२, प्राचीन कर्मग्रंथों की १९, चैत्यवंदन महाभाष्य की १७, जीवसमास की २८, जम्बूदीपप्रज्ञप्ति की ४, दशवैकालिक निर्युक्ति की १८, धर्मसंग्रहणी की ३, निशीथभाष्य की २७, पंचकल्पभाष्य की २, पंचसंग्रह की ३, पंचासक प्रकरण की ४४, पंचवस्तुक प्रकरण की ३०, पिण्डविशुद्धि की १५, पिण्डनिर्युक्ति की २, प्रज्ञापना की १४, बृहत्संग्रहणी की ७८, बृहकल्पभाष्य की ४४, विशेषणवती की १, भगवती की ४, व्यवहारभाष्य की ४, समवायांग की ३, स्थानांग की १५, संतिकर की ४, सप्ततिशतस्थान की १, संबोधप्रकरण की ८१, श्रावकव्रतभंग प्रकरण की ३० एवं प्रकीर्णकों की देविंदत्थओं की ७, गच्छाकार की १, ज्योतिषकरण्डक की ३, तित्थोगाली की ३२, आराधनापताका (प्राचीन अज्ञात आचार्य रचित) की २०, आराधनापताका (वीरभद्राचार्य रचित) की ६ एवं पञ्जंताराहजा (पर्यंत-आराधना) की ४ गाथाएं मिलती हैं। यह भी स्पष्ट है कि ये सभी ग्रंथ नेमिचंद्रसूरि के प्रवचनसारोद्धार से प्राचीन हैं। इससे यह निश्चित है कि इन गाथाओं की रचना रचनाकार ने स्वयं नहीं की है, अपितु इन्हें पूर्व आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथों से यथावत् ले लिया गया है। इस प्रकार लगभग ७०० गाथाएं अन्य ग्रंथों से अवतरित हैं, यद्यपि इनमें लगभग १०० गाथाएं ऐसी भी हैं, जो अनेक ग्रंथों में समान रूप से मिलती हैं, फिर भी लगभग ६०० गाथाएं तो अन्य ग्रंथों से अवतरित हैं ही।

मात्र इतना ही नहीं, अभी भी अनेक ग्रंथ ऐसे हैं, जिनकी गाथा सूचियों के साथ प्रवचनसारोद्धार की गाथाओं का तुलनात्मक अध्ययन नहीं हुआ है। अंगविज्ञा जैसे कुछ प्राचीन ग्रंथों से और भी समान गाथाएं मिलने की सम्भावना है। इससे ऐसा लगता है कि प्रवचनसारोद्धार की लगभग आधी गाथाएं तो अन्य ग्रंथों से संकलित हैं। ऐसी स्थिति में नेमिचंद्रसूरि को इसका ग्रंथकार या कर्ता मानने पर अनेक विपत्तियां सामने आती हैं, किंतु जब तक सम्पूर्ण ग्रंथ की सभी गाथाएं संकलित न हों तब तक अवशिष्ट गाथाओं के रचनाकार तो नेमिचंद्रसूरि (द्वितीय) को ही मानना होगा। प्राचीनकाल में ग्रंथ रचना करते

समय आगम अथवा प्राचीन आचार्यों की कृतियों से बिना नाम निर्देश के गाथाएं उद्धृत कर लेने की प्रवृत्ति रही है और इस प्रकार की प्रवृत्ति श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के रचनाकारों में पाई जाती हैं। उदाहरण के रूप में मूलाचार में उत्तराध्ययनसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान आदि अनेक ग्रंथों की २०० से अधिक गाथाएं उद्धृत हैं। यही स्थिति भगवत-आराधना एवं आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार आदि ग्रंथों की भी है।

नियमसार षट्प्राभृत आदि की अनेक गाथाएं श्वेताम्बर आगमों प्रकीर्णकों, निर्युक्तियों एवं भाष्यों आदि में समान रूप से मिलती हैं। श्वेताम्बर मान्य आगमों में भी संग्रहणी सूत्र आदि की एवं प्रकीर्णकों में एक दूसरे की अनेक गाथाएं अवतरित की गई हैं। इस प्रकार अपने ग्रंथों में अन्य ग्रंथों से गाथाएं अवतरित करने की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही हैं।

ऐसी स्थिति में जब दूसरे-दूसरे आचार्यों को तत् तत् ग्रंथ का रचनाकार मान लिया जाता है, तो नेमिचंद्रसूरि (द्वितीय) को प्रस्तुत कृति का कर्ता मान लेने पर कौन-सी आपत्ति है? पुनः १६०० गाथाओं के इस ग्रंथ में यदि ६०० गाथाएं अन्य कर्तृक हैं भी, तो शेष १००० गाथाओं के रचनाकार तो नेमिचंद्रसूरि (द्वितीय) हैं ही। प्रवचनसारोद्धार की कौनसी गाथा किस ग्रंथ में किस स्थान पर मिलती है अथवा अन्य ग्रंथों की कौनसी गाथाएं प्रवचनसारोद्धार के किस क्रम पर हैं, इसकी सूची परिशिष्ट १-२ में प्रस्तुत की गई है। ये सूचियां मुनि पद्मसेनविजयजी एवं डॉ. श्री प्रकाश पाण्डे की सूचना के आधार पर निर्मित हैं।

प्रवचनसारोद्धार की टीका और टीकाकार

प्रवचनसारोद्धार पर आचार्य सिद्धसेनसूरि की लगभग विक्रम की १३वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखी गई 'तत्त्वज्ञानविकासिनी' नामक एक सरल किंतु विशद टीका उपलब्ध होती है। नामभ्रम से बचने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि ये सिद्धसेनसूरि 'सन्मतितर्क' के रचयिता सिद्धसेन दिवाकर (चतुर्थ शती), तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति के लेखक सिद्धसेनगणि (सातवीं शती), न्यायावतार के टीकाकार सिद्धर्षि (नौवीं शती) से भिन्न हैं। ये चंद्रगच्छीय आचार्य अभयदेवसूरि की परम्परा में हुए हैं। इन्होंने प्रस्तुत टीका के अंत में अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख इस प्रकार किया है- अभयदेवसूरि - घनेश्वरसूरि - अजितसिंहसूरि - वर्धमानसूरि - देवचंद्रसूरि - चंद्रप्रभसूरि - भद्रेश्वरसूरि -

अजितसिंहसूरि - देवप्रभसूरि और सिद्धसेनसूरि। टीकाकार सिद्धसेनसूरि की तीन अन्य कृतियों - (१) पद्मप्रभचरित्र, (२) समाचारी और (३) एक स्तुति का उल्लेख मिलता है।

प्रवचनसारोद्धार की तत्त्वज्ञान-विकासिनी नामक यह वृत्ति या टीका भी टीकाकार की बहुश्रुतता को अभिव्यक्त करती है। उन्होंने अपनी टीका में लगभग १०० ग्रंथों का निर्देश किया है और उनके ५०० से अधिक संदर्भों का संकलन किया है। इन उद्धरणों की सूची भी पिण्डवाडा से प्रकाशित प्रवचनसारोद्धार भाग-२ के अंत में दी गई है। इससे वृत्तिकार की बहुश्रुतता प्रमाणित हो जाती है। वृत्तिकार ने जहां आवश्यकता हुई वहां न केवल अपनी विवेचना प्रस्तुत की, अपितु पूर्वपक्ष को प्रस्तुत कर उसका समाधान भी किया है। जहां कहीं भी उन्हें व्याख्या में मतभेद की सूचना प्राप्त हुई, उन्होंने स्पष्ट रूप से अन्य मत का भी निर्देश किया है। इसी प्रकार जहां मूल पाठ के संदर्भ में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति दिखाई दी, उन्होंने पाठ को अपनी दृष्टि से शुद्ध बनाने का भी प्रयत्न किया है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ की यह टीका भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रवचनसारोद्धार की विषयवस्तु

प्रवचनसारोद्धार के प्रारम्भ में मंगल अभिधान के पश्चात् ६३ गाथाओं में प्रवचनसारोद्धार के २७६ द्वारों का उल्लेख किया गया है, इन द्वारों के नामों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत कृति में जैन धर्म व दर्शन के विविध पक्षों को समाहित करने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि 'प्रवचनसारोद्धार' में मूल गाथाओं की संख्या मात्र १५९९ है, फिर भी इसमें जैन धर्म व दर्शन के अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों को समाहित करने का प्रयास किया गया है। मूल गाथाओं की संख्या कम होते हुए भी इसका विषय वैविध्य इतना है कि इसे 'जैन-धर्म-दर्शन का लघुविश्वकोष' कहा जा सकता है। आगे हम इसके २७६ द्वारों की विषयवस्तु का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

'प्रवचनसारोद्धार' के प्रथम द्वार में चैत्यवंदन विधि का विवेचन किया गया है। चैत्यवंदन के सम्बंध में सर्वप्रथम दसत्रिकों की चर्चा की गई है। ये दस त्रिक निम्न हैं- (१) त्रि-निषेधिका, (२) त्रि-प्रदक्षिणा, (३) त्रि-प्रणाम, (४) त्रिविध-पूजा, (५) त्रि-अवस्था/भावना, (६) त्रिदिशा-निरीक्षणविरति, (७) त्रिविध भूमिप्रमार्जन, (८) वर्ण-त्रिक, (९) मुद्रा-त्रिक और (१०) प्रणिधान-त्रिक।

चैत्यवन्दन के हेतु जिन-भवन में प्रवेश करते सर्वप्रथम पुष्प-माला, ताम्बूल आदि सचित्त द्रव्यों का परिहार करे, आभूषण आदि अचित्त द्रव्यों का परिहार नहीं करे और एक अधोवस्त्र और एक उत्तरीय धारण करें। ज्ञातव्य है कि कुछ आचार्यों के अनुसार यहां अहंकार सूचक अचित्तद्रव्य जैसे छत्र, चामर, मुकुट आदि के भी त्याग का निर्देश है। प्रवचनसारोद्धार की टीका इस सम्बंध में विस्तृत विवेचना करती है। चक्षु के द्वारा जिन प्रतिमा दिखाई देने पर अंजलि प्रग्रह करें और एकाग्रचित्त होकर पूर्वोक्त दसत्रिकों का अनुसरण करता हुआ जिन प्रतिमा का वंदन करें। ये दस त्रिक निम्नानुसार हैं-

१. सर्वप्रथम निषेधिका त्रिक में (अ) गृही जीवन सम्बंधी सावद्य व्यापार का प्रतिषेध, (ब) जिनभवन सम्बंधी सावद्य व्यापार का त्याग और (स) पूजा विधान सम्बंधी सावद्य व्यापार का त्याग। कुछ अन्य आचार्यों के अनुसार ये तीन निषेधिकाएं इस प्रकार हैं- (१) जिन मंदिर के मुख्य द्वार पर आकर गृहस्थ सम्बंधी कार्यों का निषेध करें, (२) फिर जिन-मंदिर के मध्य भाग (रंग-मण्डप) में प्रवेश करते समय सावद्य (हिंसक) वचन-व्यापार का निषेध करें और (३) गर्भगृह में प्रवेश करने पर सभी सावद्य (हिंसक) कार्यों के मानसिक चिंतन का भी निषेध करें- यह निषेधिकात्रिक हैं।

२. जिन प्रतिमा की तीन प्रदक्षिणा करना प्रदक्षिणात्रिक है।

३. जिन प्रतिमा को तीन बार प्रणाम करना प्रणामत्रिक है।

४. पूजा त्रिक के अंतर्गत तीन प्रकार की पूजा का उल्लेख किया गया है - (१) पुष्प-पूजा, (२) अक्षत-पूजा, (३) स्तुति-पूजा

५. जिन की छद्मस्थ, कैवल्य और सिद्ध-इन तीन अवस्थाओं का चिंतन करना त्रि-अवस्था भावना है।

६. तीन दिशाओं में न देखकर मात्र जिन-बिम्ब के सम्मुख दृष्टि रखना 'त्रि-दिशानिरीक्षणविरति' है।

७. जिस भूमि पर स्थित रहकर जिन प्रतिमा को वंदन करना है, उस स्थल का गृहस्थ द्वारा वस्त्र अंचल से और मुनि द्वारा रजोहरण से तीन बार प्रमार्जन करना प्रमार्जनात्रिक हैं।

८. शब्द, अर्थ एवं आलम्बन (प्रतिमा) ये वर्ण-त्रिक है।

९. मुद्रात्रिक के अंतर्गत तीन प्रकार की मुद्राएं बताई गई हैं -

(अ) जिनमुद्रा, (ब) योगमुद्रा, (स) मुक्ताशुक्ति मुद्रा

१०. मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों का संवरण करके परमात्मा की शरण ग्रहण करना प्रणिधान त्रिक है।

‘चैत्यवंदनद्वार’ में उपरोक्त दशत्रिकों के साथ-साथ स्तुति एवं वंदन विधि का तथा द्वादश अधिकारों का विवेचन है। अंत में चैत्यवंदन कब और कितनी बार करना आदि की चर्चा के साथ चैत्यवंदन के जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट भेदों का विवेचन करते हुए यह चैत्यवंदन द्वार समाप्त होता है।

‘चैत्यवंदन’ नामक प्रथम द्वार के पश्चात् ‘प्रवचनसारोद्धार’ का दूसरा द्वार गुरुवंदन के विधि-विधान एवं दोषों से सम्बंधित है। प्रस्तुत कृति में गुरुवंदन के १९२ स्थान वर्णित किए गए हैं - मुखवस्त्रिका, काय (शरीर) और आवश्यक-क्रिया, इन तीनों में प्रत्येक के पच्चीस-पच्चीस स्थान बताए गए हैं। इनके अतिरिक्त स्थान सम्बंधी छः, गुण सम्बंधी छः, वचन सम्बंधी छः, अधिकारी को वंदन न करने सम्बंधी पांच, अनधिकारी को वंदन करने सम्बंधी पांच स्थान और प्रतिशोध सम्बंधी पांच स्थान बताए हैं। इसी क्रम में अवग्रह सम्बंधी एक, अभिधान सम्बंधी पांच, उदाहरण सम्बंधी पांच, आशातना सम्बंधी तेतीस, वंदनकोष सम्बंधी बत्तीस एवं कारण सम्बंधी आठ- ऐसे कुल १९२ स्थानों का उल्लेख है। इस चर्चा से मुखवस्त्रिका के द्वारा काय अर्थात् शरीर के किन-किन भागों का कैसे प्रमार्जन करना चाहिए इसका विस्तृत एवं रोचक विवरण है। इसी क्रम में गुरुवंदन करते समय खमासना के पाठ का किस प्रकार से उच्चारण करना तथा उस समय कैसी क्रिया करनी चाहिए, इसका भी इस द्वार में निर्देश है। वंदन के अनधिकारी के रूप में (१) पार्श्वस्थ, (२) अवसन्न, (३) कुशील, (४) संसक्त और (५) यथाच्छंद- ऐसे पांच प्रकार के श्रमणों का न केवल उल्लेख किया गया है, अपितु उनके स्वरूप का भी विस्तृत विवरण दिया गया है। इसी क्रम में शीतलक, क्षुल्लक, श्रीकृष्ण शैल और पालक के दृष्टांत भी दिए गए हैं। अंत में तेतीस आशातनाओं और वंदन सम्बंधी बत्तीस दोषों एवं वंदना के आठ कारणों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। इस प्रकार प्रथम एवं द्वितीय द्वार लगभग १०० गाथाओं में सम्पूर्ण होते हैं।

‘प्रवचनसारोद्धार’ के तीसरे द्वार में दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की विधि तथा इनके अंतर्गत किए जाने वाले कायोत्सर्ग एवं क्षामणकों (खमासना) की विधि का विवेचन किया गया है। इसमें यह भी बताया गया है

कि दैवासिक-प्रतिक्रमण में चार, रात्रिक प्रतिक्रमण में दो, पाक्षिक में बारह, चातुर्मासिक में बीस और सांवत्सरिक में चालीस लोगस्स का ध्यान करना चाहिए। पुनः इसी प्रसंग में इनकी श्लोक संख्या एवं श्वासोच्छ्वास की संख्या का भी वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से दैवासिक प्रतिक्रमण में १००, रात्रिक में ५०, पाक्षिक में ३००, चातुर्मासिक में ५०० और वार्षिक में १००० श्वासोच्छ्वास का ध्यान करना चाहिए। इसी क्रम में आगे क्षामणकों की संख्या का भी विचार किया गया है।

चतुर्थ 'प्रत्याख्यान' द्वार में सर्वप्रथम निम्न दस प्रत्याख्यानों की चर्चा है - (१) भविष्य सम्बन्धी, (२) अतीत सम्बन्धी, (३) कोटि सहित, (४) नियंत्रित, (५) साकार, (६) अनाकार, (७) परिमाण व्रत, (८) निरवशेष, (९) सांकेतिक, (१०) काल सम्बन्धी प्रत्याख्यान। सांकेतिक प्रत्याख्यान में दृष्टि, मुष्टि, ग्रंथी आदि जिन आधारों पर सांकेतिक प्रत्याख्यान किए जाते हैं- उनकी चर्चा है। इसी क्रम में आगे समय सम्बन्धी दस प्रत्याख्यानों की चर्चा की गई है। इसमें नवकारसी, अर्द्ध-पौरुषी, पौरुषी आदि के प्रत्याख्यानों की चर्चा है। इसी क्रम में दस विकृतियों (विगयों) की, बत्तीस अनन्तकार्यों की और बावीस अभक्ष्यों की भी चर्चा की गई है। साथ ही इसमें शुद्ध प्रत्याख्यान के कारण एवं स्वरूप का विवेचन भी है।

पांचवां कायोत्सर्ग द्वार है। इसके अंतर्गत मुख्य रूप से कायोत्सर्ग के १९ दोषों की चर्चा की गई है। इसी क्रम में इन दोषों के स्वरूप का भी किंचित् दिग्दर्शन कराया गया है।

'प्रवचनसारोद्धार' का छठा द्वार श्रावक प्रतिक्रमण के अतिचारों का वर्णन करता है, इसके अंतर्गत संलेखना के पांच, कर्मादान के पंद्रह, ज्ञानाचार के आठ, दर्शनाचार के आठ, चारित्राचार के आठ, तप के बारह, वीर्य के तीन, सम्यक्त्व के पांच, अहिंसा आदि पांच अणुव्रत, दिक्व्रतों आदि तीन गुणव्रतों एवं सामायिक आदि चार शिक्षाव्रतों- ऐसे श्रावक के बारह व्रतों के साठ अतिचारों का उल्लेख है। यह समस्त विवरण श्रावक प्रतिक्रमण के सूत्र के अनुरूप ही हैं।

'प्रवचनसारोद्धार' के ७वें द्वारों में भरत एवं ऐरवत क्षेत्र में हुए तीर्थकरों (जिन) के नामों की सूचि प्रस्तुत की गई है। इसके अंतर्गत जहां भरतक्षेत्र के अतीत, वर्तमान और अनागत तीनों चोविसियों के जिनों के नाम दिए गए हैं, वहीं ऐरवत क्षेत्र के वर्तमान काल के जिनों के ही नाम दिए गए हैं।

हम देखते हैं कि 'प्रवचनसारोद्धार' के प्रथम सात द्वारों तक तो अपने भेद प्रभेदों

के साथ विषयों का विस्तार से विवेचन हुआ है, किंतु ८वें द्वार से विवेचन संक्षिप्त रूप से ही किया गया है।

इसी क्रम में 'अष्टमद्वार' में चौबीस तीर्थकरों के प्रथम गणधरों के नामों का उल्लेख हुआ है।

९वें द्वार के अंतर्गत प्रत्येक तीर्थकर की प्रवर्तिनियों अर्थात् साध्वी प्रमुखाओं के नामों का उल्लेख किया गया है।

१०वें द्वार के अंतर्गत तीर्थकर नाम-कर्म के उपार्जन हेतु जिन बीस स्थानकों की साधना की जाती है, उनकी चर्चा है। यह विवेचन ज्ञाताधर्मकथा के मल्ली अध्ययन में मिलता है।

११वें द्वार में तीर्थकरों की माताओं और पिताओं का उल्लेख है।

१२वें द्वार में तीर्थकरों की माता-पिता अपने देह का त्याग कर किस गति में उत्पन्न हुए इसकी चर्चा है।

१३वें द्वार में किसी काल विशेष में जिनों की जघन्य और उत्कृष्ट संख्या का विचार किया गया है।

१४वें द्वार के अंतर्गत यह बताया गया है कि किस जिन के जन्म में समय लोक में अधिकतम और न्यूनतम जिनों की संख्या कितनी थी।

१५वें द्वार में जिनों की गणधरों की समग्र संख्या का विवेचन किया गया है। इसी क्रम में आगे १६वें द्वार में मुनियों की संख्या का, १७वें द्वार में साध्वियों की संख्या का, १८वें द्वार में जिनों के वैक्रय-लब्धिधारक मुनियों की संख्या का, १९वें द्वार में वादियों की संख्या का, २०वें द्वार में अवधिज्ञानियों की संख्या का, २१वें द्वार में केवलज्ञानियों की संख्या का, २२वें द्वार में मनःपर्यवज्ञानियों की संख्या का, २३वें द्वार में चतुर्दश पूर्वों के धारकों की संख्या का, २४वें द्वार में जिनों के श्रावकों की संख्या का और २५वें द्वार में श्राविकाओं की संख्या का निर्देश हुआ है।

इसी क्रम में २६वां द्वार तीर्थकरों के शासन-सहायक यक्षों के नाम का उल्लेख करता है, तो २७वां द्वार यक्षिणियों के नामों को सूचित करता है।

प्रवचनसारोद्धार का २८वां द्वार तीर्थकरों के शरीर के परिमाण (लम्बाई) का निर्देश करता है, तो २९वां द्वार प्रत्येक तीर्थकरों के विशिष्ट लांछन की चर्चा करता है।

३०वें द्वार में तीर्थकरों के वर्ण अर्थात् शरीर के रंग की चर्चा की गई है।

३१वां द्वार किस तीर्थकर के साथ कितने व्यक्तियों ने मुनिधर्म स्वीकार किया उनकी संख्या का निर्देश करता है।

३२वां द्वार तीर्थकरों की आयु का निर्देश करता है।

३३वें द्वार में प्रत्येक तीर्थकर ने कितने-कितने मुनियों के साथ निर्वाण प्राप्त किया, इसका उल्लेख है, तो ३४वें द्वार में किस तीर्थकर ने किस स्थान पर निर्वाण प्राप्त किया, इसका उल्लेख है।

३५वां द्वार तीर्थकरों एवं अन्य शलाका पुरुषों के मध्य कितने-कितने काल का अंतराल रहा है, इसका विवेचन प्रस्तुत करता है, जबकि ३६वें द्वार में इस बात की चर्चा है कि तीर्थकर का तीर्थ या शासन कितने काल तक चला और बीच में कितने काल का अंतराल रहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि ७वें द्वार से लेकर ३६वें द्वार तक २९ द्वारों में मुख्यतः तीर्थकरों से सम्बंधित विभिन्न तथ्यों का निर्देश किया गया है।

३७वें द्वार से लेकर ९७वें द्वार तक इकसठ द्वारों में पुनः जैन सिद्धांत और आचार सम्बंधी विवेचन प्रस्तुत किए गए हैं, यद्यपि बीच में कहीं कहीं तीर्थकरों के तप आदि का भी निर्देश है। ३७वें द्वार में दस आशातनाओं का उल्लेख है, तो ३८वें द्वार में चौरासी आशातनाओं का उल्लेख है। इसी चर्चा के प्रसंग में इस द्वार में मुनि (यति) चैत्य में कितने समय तक रह सकता है, इसकी चर्चा भी हुई है।

३९वें द्वार में तीर्थकरों के आठ महाप्रतिहार्यों और ४०वें द्वार तीर्थकरों के चौतीस अतिशयों (विशिष्टताओं) की चर्चा है।

४१वां द्वार उन अठारह दोषों का उल्लेख करता है, जिनसे तीर्थकर मुक्त रहते हैं, दूसरे शब्दों में जिनको उन्होंने नष्ट कर दिया है।

४२वां द्वार जिन-शब्द के चार निक्षेपों की चर्चा करता है और यह बताता है कि ऋषभ, शांति, महावीर आदि जिनों के नाम नामजिन हैं, जबकि कैवल्य और मुक्ति को प्राप्त जिन भावजिन अर्थात् यथार्थजिन हैं। जिन-प्रतिमा को स्थापनाजिन कहा जाता है और जो भविष्य में जिन होने वाले हैं, वे द्रव्यजिन कहलाते हैं।

४३वां द्वार किस तीर्थकर ने दीक्षा के समय कितने दिन का तप किया था, इसका विवेचन करता है, इसी क्रम में ४४वें द्वार में किस तीर्थकर को केवल-ज्ञान उत्पन्न

होने के समय कितने दिन का तप था, इसका उल्लेख है। आगे ४५वें द्वार में तीर्थकरों के द्वारा अपने निर्वाण के समय किए गए तप का उल्लेख है।

प्रस्तुत कृति का ४६वां द्वार उन जीवों का उल्लेख करता है, जो भविष्य में तीर्थकर होने वाले हैं।

४७वें द्वार में इस बात की चर्चा की गई है कि ऊर्ध्वलोक, तिर्यकलोक, जल, स्थल आदि स्थानों से एक साथ कितने व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं।

४८वां द्वार हमें यह सूचना देता है कि एक समय में एक साथ कितने पुरुष, कितनी स्त्रियां अथवा कितने नपुंसक सिद्ध हो सकते हैं।

४९वें द्वार में सिद्धों के भेदों की चर्चा है। ज्ञातव्य है कि जैसे तो सिद्धों में कोई भेद नहीं होता, किंतु जिस पर्याय (अवस्था) से सिद्ध हुए हैं, उसके आधार पर सिद्धों के पंद्रह भेदों की चर्चा की गई है।

५०वें द्वार में सिद्धों की अवगाहना अर्थात् उनके आत्म-प्रदेशों के विस्तार-क्षेत्र की चर्चा की गई है। इसी क्रम में यह बताया गया है कि उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो, जघन्य अवगाहना वाले चार तथा मध्यम अवगाहना वाले एक सौ आठ व्यक्ति एक साथ सिद्ध हो सकते हैं। अवगाहना के संदर्भ में चर्चा करते हुए प्रस्तुत कृति के टीकाकार ने यह भी बताया है कि उत्कृष्ट अवगाहना पांच सौ धनुष और जघन्य अवगाहना दो हाथ परिमाण होती है। यहां यह ज्ञातव्य है कि सिद्धों की उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य अवगाहना के संदर्भ में विशेष चर्चा प्रस्तुत कृति के छप्पनवें, सत्तावनवें एवं अष्टावनवें द्वार में की गई है।

५१वें द्वार में स्वलिंग, अन्यलिंग और गृहस्थलिंग की अपेक्षा से एक समय में कितने सिद्ध हो सकते हैं, इसका विवेचन किया गया है। गृहस्थ लिंग से चार, अन्यलिंग से दस और स्वलिंग से एक सौ आठ व्यक्ति एक समय में सिद्ध हो सकते हैं। आगे ५२वें द्वार में यह बताया गया है कि निरंतर अर्थात् बिना अंतराल कितने समय तक जीव सिद्ध हो सकते हैं और उनकी संख्या कितनी होती है।

५३वें द्वार में स्त्री, पुरुष और नपुंसक की अपेक्षा से एक समय में कितने व्यक्ति सिद्ध हो सकते हैं, इसकी चर्चा है। इस संदर्भ में यह बताया गया है कि एक समय में बीस स्त्रियां, एक सौ आठ पुरुष और दस नपुंसक शरीर पर्याय से सिद्ध हो सकते हैं। पुनः इसी द्वार में यह भी बताया गया है कि नरक, भवनपति, व्यंतर और तिर्यक् लोक के स्त्री-पुरुष

तथा अकल्पवासी अर्थात् गैवेयक एवं अनुत्तरविमानवासी देव पुनः मनुष्य भव ग्रहण करके मुक्ति प्राप्त करते हैं, तो वे एक समय में अधिकतम दस-दस व्यक्ति ही सिद्ध हो सकते हैं। कल्पवासी देवों से मनुष्य जन्म ग्रहण कर मुक्त होने वाले जीवों की अधिकतम संख्या एक सौ आठ हो सकती है। पृथ्वीकाय, अप्कायिक और पंकप्रभा आदि नरक से मनुष्य भव ग्रहण करके मुक्ति प्राप्त करने वाले एक समय में चार-चार व्यक्ति हो सकते हैं।

५४वें द्वार में सिद्धों के आत्म-प्रदेशों के संस्थान (विस्तार क्षेत्र) की चर्चा की गई है। इस चर्चा में उत्तानक अर्धअवनत, पार्श्वस्थित, स्थित, उपविष्ट आदि संस्थानों की चर्चा भी की गई है। इसके पश्चात् ५५वें द्वार में सिद्धों की अवस्थिति की चर्चा है। वस्तुतः, इस प्रसंग में सिद्ध शिला के ऊपर और अलोक से नीचे कितने मध्य भाग में सिद्ध अवस्थित रहे हुए हैं यह बताया गया है। पुनः जैसा कि हमने पूर्व से सूचित किया है ५६-५७ और ५८वें द्वार में सिद्धों की उत्कृष्ट-मध्यम और जघन्य अवगाहना की चर्चा की गई है। ५९वें द्वार में लोक की शाश्वत जिन प्रतिमाओं का उल्लेख है।

६०वें द्वार में जिन कल्प का पालन करने वाले मुनियों के और ६१वें द्वार में स्थविर कल्प का पालन करने वाले मुनियों के उपकरणों का उल्लेख है। इसी प्रसंग में स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध के स्वरूप की चर्चा भी की गई है।

६२वें द्वार में साध्वियों के उपकरणों की चर्चा है, जबकि ६३वां द्वार जिन कल्पिकों की संख्या के सम्बंध में विवेचन करता है। ६४वें द्वार में आचार्य के ३६ गुणों का निर्देश किया गया है, इसी प्रसंग में आचार्य की ८ सम्पदाओं की भी विस्तार से चर्चा की गई है। ज्ञातव्य है कि यहां आचार्य के इन छत्तीस गुणों की चर्चा अनेक अपेक्षाओं से उपलब्ध होती है।

६५वें द्वार में जहां विनय के बावन भेदों की चर्चा है, वहीं ६६वें द्वार में चरणसत्तरी और ६७वें द्वार में करणसत्तरी का विवेचन है। पंच महाव्रत, दस श्रमण धर्म, सतरह प्रकार का संयम, दस प्रकार की वैयावृत्य, नौ ब्रह्मचर्य, गुप्तियां, तीन रत्नत्रय, बारह तप और क्रोध आदि चार कषायों का निग्रह ये चरणसत्तरी के सत्तर भेद हैं। साथ ही प्रस्तुत कृति में यह भी बताया गया है कि अन्य-अन्य आचार्यों की कृतियों में चरणसत्तरी के इन सत्तर भेदों का वर्गीकरण किस-किस प्रकार से किया गया है। करणसत्तरी के अंतर्गत सोलह उद्गम दोषों, सोलह उत्पादन दोषों, दस एषणा दोषों, पांच ग्रासैषणा दोषों, पांच समितियों, बारह भावनाओं, पांच इंद्रियों का निरोध, तीन गुप्ति आदि की चर्चा की गई है।

६८वें द्वार में जंघाचरण और विद्याचारण लब्धि अर्थात् आकाश गमन सम्बन्धी विशिष्ट शक्तियों की चर्चा की गई है।

६९वें द्वार में परिहारविशुद्धितप के स्वरूप का और ७०वें द्वार में यथालंढिक के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

७१वें द्वार में अङ्गतालीस निर्यामकों और उनके कार्य विभाजन की चर्चा है। निर्यामक समाधिमरण ग्रहण किए हुए मुनि की परिचर्या करने वाले मुनियों को कहा जाता है।

७२वें द्वार में पंच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं की विवेचना की गई है। इसी क्रम में ७३वां द्वार आसुरी आदि पच्चीस अशुभ भावनाओं का विवेचन करता है।

७४वें द्वार में विभिन्न तीर्थकरों के काल में महाव्रतों की संख्या कितनी होती है, इसका निर्देश किया गया है।

७५वें द्वार में चौदह कृतिकर्मों की चर्चा है। कृतिकर्म का तात्पर्य आचार्य आदि ज्येष्ठ मुनियों के वंदन से है।

७६वें द्वार में भरत, ऐरवत आदि क्षेत्रों में कितने चारित्र होते हैं, उसकी चर्चा करता है। प्रथम और अंतिम तीर्थकर के समय में भरत और ऐरवत क्षेत्र में सामायिक आदि पांच चारित्र पाए जाते हैं किंतु शेष बावीस तीर्थकरों के समय में इन क्षेत्रों में सामायिक, सूक्ष्म सम्पराय और यथाख्यात ये तीन चारित्र उपलब्ध होते हैं। महाविदेह क्षेत्र में भी पूर्वोक्त तीन चारित्र ही होते हैं। इन क्षेत्रों में छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धि चारित्र का कदाचित् अभाव होता है।

७७वें और ७८वें द्वार में यह बताया गया है कि दस स्थितिकल्पों में मध्मवर्ती-बावीस तीर्थकरों के समय में चार स्थित, छः वैकल्पिक कल्प होते हैं, जबकि प्रथम और अंतिम तीर्थकर के समय में दस ही स्थित कल्प होते हैं।

७९वें द्वार में निम्न पांच प्रकार के चैत्यों का उल्लेख हुआ है- (१) भक्ति चैत्य, (२) मंगल चैत्य, (३) निश्राकृत चैत्य, (४) अनिश्राकृत चैत्य और (५) शाश्वत चैत्य।

८०वें द्वार में निम्न पांच प्रकार की पुस्तकों का उल्लेख हुआ है- (१) गण्डिका, (२) कच्छपी, (३) मुष्टि, (४) संपुष्ट फलक और (५) छेदपाटी। इसी क्रम में ८१वें द्वार में पांच प्रकार के दण्डों का, ८२वें द्वार में पांच प्रकार के तृणों का, ८३वें द्वार में पांच

प्रकार के चमड़े का और ८४वें द्वार में पांच प्रकार के वस्त्रों का विवेचन किया गया है।

८५वें द्वार में पांच प्रकार के अवग्रहों (ठहरने के स्थानों) का और ८६वें द्वार में बावीस परिषहों का विवेचन किया गया है।

८७वें द्वार में सात प्रकार की मण्डलियों का उल्लेख है। ८८वें द्वार में जम्बूस्वामी के समय में जिन दस बातों का विच्छेद हुआ, उनका उल्लेख है।

८९वें द्वार में क्षपकश्रेणी का और ९०वें द्वार में उपशमश्रेणी का विवेचन है।

९१वें द्वार में स्थण्डिल भूमि (मल-मूत्र विसर्जन करने का स्थान) कैसी होनी चाहिए- इसका विवेचन उपलब्ध होता है।

९२वें द्वार में चौदह पूर्वों और उनके विषय तथा पदों की संख्या आदि का निर्देश किया गया है।

९३वें द्वार में निर्ग्रथों के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रथ और स्नातक- ऐसे पांच प्रकारों की चर्चा है।

९४वें द्वार में निर्ग्रथ, शाक्य, तापस, गैरूक और आजीवक ऐसे पांच प्रकार के श्रमणों की चर्चा है।

९५वें द्वार में संयोजन, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण ऐसे प्रासैषणा के पांच दोषों का विवेचन किया गया है। मुनि को भोजन करते समय स्वाद के लिए भोज्य पदार्थों का सम्मिश्रण करना, परिमाण से अधिक आहार करना, भोज्य पदार्थों में राग रखना, प्रतिकूल भोज्य पदार्थों की निंदा करना और अकारण आहार करना निषिद्ध है।

९६वें द्वार में पिण्ड-पाणैषणा के सात प्रकारों का उल्लेख हुआ है।

९७वें द्वार में भिक्षाचर्या अष्टक अर्थात् भिक्षाचर्या के आठ प्रकारों का विवेचन किया गया है।

९८वें द्वार में दस प्रायश्चित्तों का विवेचन किया गया है। दस प्रायश्चित्त निम्न हैं-

(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) आलोचना सहित प्रतिक्रमण, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) मूल, (९) अनवस्थित (उपस्थापन) और (१०) पारांचिका।

९९वें द्वार में ओघ सामाचारी अर्थात् सामान्य सामाचारी का विवेचन है, यह विवेचन औघनिर्युक्ति में प्रतिपादित सामाचारी पर आधारित है।

१००वें द्वार में पदविभाग सामाचारी का उल्लेख है। ज्ञातव्य है कि छेदसूत्रों में वर्णित सामाचारी पदविभागसामाचारी कहलाती है।

१०१वें द्वार में चक्रवाल सामाचारी का विवेचन किया गया है। चक्रवाल सामाचारी इच्छाकार, मिथ्याकार आदि दस प्रकार की है। यह सामाचारी उत्तराध्ययन और भगवती सूत्र में भी वर्णित है। प्रस्तुत कृति में इस सामाचारी का विस्तृत विवेचन है।

१०२वें द्वार में उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी का विवेचन किया गया है।

१०३वें द्वार में गीतार्थ विहार और आश्रित विहार का निर्देश है। इसी संदर्भ में यात्रा करते समय किस प्रकार की सावधानी रखना चाहिए, इसका भी विवेचन किया गया है। ज्ञातव्य है कि आगम के साथ-साथ देश-काल और परिस्थिति का आकलन करने में समर्थ साधक गीतार्थ कहलाता है।

१०४वें द्वार में अप्रतिबद्ध विहार का निर्देश है। इसमें यह बताया गया है कि मुनि चातुर्मास काल में चार मास तक, अन्य काल में एक मास तक एक स्थान पर रह सकता है, उसके पश्चात् सामान्य परिस्थिति में विहार करना चाहिए।

१०५वें द्वार में जातकल्प और अजातकल्प का निर्देश है। श्रुतसम्पन्न गीतार्थ मुनि के साथ यात्रा करना जातकल्प है और इससे भिन्न अजातकल्प है। इसी क्रम में ऋतुबद्ध विहार को सम्मत विहार कहा गया है और भिन्न विहार को असम्मत विहार कहा गया है।

१०६वें द्वार में मलमूत्र आदि के प्रतिस्थापन अर्थात् विसर्जन की विधि का विवेचन है। इसी प्रसंग में विभिन्न दिशाओं का भी विचार किया गया है।

१०७वें द्वार में दीक्षा के अयोग्य अष्टारह प्रकार के पुरुषों का उल्लेख किया गया है। इसी क्रम में १०८वें द्वार में दीक्षा के अयोग्य बीस प्रकार की स्त्रियों का भी उल्लेख किया गया है।

१०९वें द्वार में नपुंसकों को और ११०वें द्वार में विकलांगों को दीक्षा के अयोग्य बताया गया है। नपुंसकों की चर्चा करते हुए टीका में उनके सोलह प्रकारों का उल्लेख हुआ है और सोलह प्रकारों में से दस प्रकार को दीक्षा के अयोग्य और छः प्रकार को दीक्षा के योग्य माना गया है।

१११वें द्वार में साधु को कितने मूल्य का वस्त्र कल्प्य (ग्राह्य) है, उसका विवेचन किया गया है। इसी प्रसंग में विभिन्न प्रदेशों और नगरों में मुद्रा विनिमय का पारस्परिक

अनुपात क्या था, इसकी भी चर्चा हुई है।

यहां यह भी बताया गया है कि एक लाख साभारक के मूल्य वाला वस्त्र उत्कृष्ट होता है और अट्टारह साभारक या उससे भी कम मूल्य वाला वस्त्र जघन्य होता है। इन दोनों के मध्य का वस्त्र मध्यम कोटि का माना जाता है। मुनि के लिए अल्प मूल्य का वस्त्र ही ग्रहण करने योग्य है।

११२वें द्वार में शय्यातर पिण्ड अर्थात् जिसने निवास के लिए स्थान दिया हो, उसके यहां से भोजन ग्रहण करना निषिद्ध माना गया है। इसी क्रम में अट्टारह प्रकार के शय्यातरों का उल्लेख भी हुआ है।

११३वें द्वार में श्रुतज्ञान और सम्यक्त्व के पारस्परिक सम्बंध की चर्चा हुई है।

११४वें द्वार में पांच प्रकार के निर्ग्रंथों का पांच प्रकार के ज्ञानों से और चार प्रकार की गतियों से सम्बंध बताया गया है।

११५वें द्वार में जिस क्षेत्र में सूर्य उदित हो गया है, उस क्षेत्र में गृहीत अशन आदि ही कल्प्य होता है, शेष कालातिक्रान्त कहलाता है, जो अकल्प्य (अग्राह्य) है।

११६वें द्वार में यह बताया गया है कि दो कोस से अधिक दूरी से लाया गया भोजन-पान क्षेत्रातीत कहलाता है और यह मुनि के लिए अकल्प्य है।

११७वें द्वार में यह बताया गया है कि प्रथम प्रहर में लिया गया भोजन-पान आदि तीसरे प्रहर तक भोज्य होते हैं, उसके बाद वे कालातीत होकर अकल्प्य हो जाते हैं।

११८वें द्वार में पुरुष के लिए बत्तीस कवल भोजन ही ग्राह्य माना गया है बत्तीस कवल से अधिक भोजन प्रमाणातिक्रान्त होने से अकल्प्य माना गया है।

११९वें द्वार में चार प्रकार के निवास-स्थानों को दुख शय्या बताया गया है। इसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट किया गया है कि जिन स्थानों पर अश्रद्धालु जन रहते हों, जहां पर दूसरों से कुछ प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएं की जाती हो, जहां मनोज्ञ शब्द, रूप अथवा भोजन आदि मिलते हों और जहां गत्राभ्यंगन अर्थात् मर्दन आदि होता हो, वे स्थान मुनि के निवास के अयोग्य हैं। १२०वें द्वार में इसके विपरीत चार प्रकार की सुख शय्या अर्थात् मुनि के निवास के योग्य माने गए हैं।

१२१वें द्वार में तेरह क्रियास्थानों की, १२२वें द्वार में श्रुतसामायिक, दर्शनसामायिक, देशसामायिक और सर्वसामायिक- ऐसी चार सामायिक की और १२३वें द्वार में अट्टारह शीलांगों की चर्चा है। पुनः १२४वें द्वार में सात नयों की चर्चा की गई है,

जबकि १२५वें द्वार में मुनि के लिए वस्त्र-ग्रहण की विधि बताई गई है।

१२६वें द्वार में आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत- ऐसे पांच व्यवहारों की चर्चा है।

१२७वें द्वार में निम्न पांच प्रकार के यथाजात का उल्लेख है। (१) चोलपट्ट, (२) रजोहरण, (३) और्णिक, (४) क्षौमिक और (५) मुखवस्त्रिका। इन उपकरणों से ही श्रमण का जन्म होता है। अतः इन्हें यथाजात कहा गया है।

१२८वें द्वार में मुनियों के रात्रि-जागरण की विधि का विवेचन है। उसमें बताया गया है कि प्रथम प्रहर में आचार्य, गीतार्थ और सभी साधु मिलकर स्वाध्याय करें। दूसरे प्रहर में सभी मुनि और आचार्य सो जाएं और गीतार्थ मुनि स्वाध्याय करें। तीसरे प्रहर में आचार्य जागृत होकर स्वाध्याय करें और गीतार्थ मुनि सो जाएं। चौथे प्रहर में सभी साधु उठकर स्वाध्याय करें। आचार्य और गीतार्थ सोए रहें, क्योंकि उन्हें बाद में प्रवचन आदि कार्य करने होते हैं।

१२९वें द्वार में जिस व्यक्ति के सामने आलोचना की जा सकती है, उसको खोजने की विधि बताई गई है।

१३०वें द्वार में प्रति जागरण के काल के सम्बंध में विवेचन किया गया है।

१३१वें द्वार में मुनि की उपधि अर्थात् संयमोपकरण के धोने के काल का विवेचन है, इसमें यह बताया गया है कि किस उपधि को कितने काल के पश्चात् धोना चाहिए।

१३२वें द्वार में साधु-साध्वियों के आहार की मात्रा कितनी होना चाहिए, इसका विवेचन किया गया है। सामान्यतः यह बताया गया है कि मुनि को बड़े आंवले के आकार के बत्तीस कौर और साध्वी को अट्ठावीस कौर आहार ग्रहण करना चाहिए।

१३३वें द्वार में वसति अर्थात् मुनि के निवास-स्थान की शुद्धि आदि का विवेचन किया गया है। मुनि के लिए किस प्रकार का आवास ग्राह्य होता है, इसकी विवेचना इस द्वार में की गई है।

१३४वें द्वार में संलेखना सम्बंधी विधि-विधान का विस्तृत विवेचन किया गया है।

१३५वें द्वार में यह बताया गया है कि नगर की कल्पना पूर्वाभिमुख वृषभ के रूप में करे। उसके पश्चात् उसे उस वृषभ रूप कल्पित नगर में किस स्थान पर निवास करना है,

इसका निश्चय करो। इसमें यह बताया गया है - किस अंग/क्षेत्र में निवास करने का क्या फल होता है, इसकी भी चर्चा है।

१३६वें द्वार में किस ऋतु में किस प्रकार का जल कितने काल तक प्रासुक रहता है और बाद में सचित्त हो जाता है, इसका विवेचन किया गया है। सामान्यतया यह माना जाता है कि उष्ण किया हुआ प्रासुक जल ग्रीष्म ऋतु में पांच प्रहर तक, शीत ऋतु में चार प्रहर तक और वर्षा ऋतु में तीन प्रहर तक प्रासुक (अचित्त) रहता है और बाद में सचित्त हो जाता है। यद्यपि चूना डालकर अधिक समय तक उसे प्रासुक रखा जा सकता है।

१३७वें द्वार में पशु-पक्षी आदि तिर्यच-जीवों की मादाओं के सम्बंध में विवेचन किया गया है।

१३८वें द्वार में इस अवसर्पिणी काल में घटित हुए दस प्रकार के आश्चर्यों जैसे महावीर के गर्भ का संहरण, स्त्री-तीर्थकर आदि का वर्णन किया गया है।

१३९वें द्वार में सत्य, मृषा, सत्य-मृषा (मिश्र) और असत्य-अमृषा ऐसी चार प्रकार की भाषाओं का उनके अवान्तर भेदों और उदाहरणों सहित विवेचन किया गया है।

१४०वां द्वार वचन षोडसक अर्थात् सोलह प्रकार के वचनों का उल्लेख करता है।

१४१ वें द्वार में मास पंचक और १४२वें द्वार में वर्ष पंचक का विवेचन है।

१४३वें द्वार में लोक के स्वरूप (आकार-प्रकार) का विवेचन है। इसी क्रम में यहां लोक पुरुष की भी चर्चा की गई है।

१४४ से लेकर १४७ तक चार द्वारों में क्रमशः तीन, चार, दस और पंद्रह प्रकार की संज्ञाओं का विवेचन किया गया है।

१४८वें द्वार में सम्यक्त्व के सड़सठ भेदों का विवेचन है, जबकि १४९वें द्वार में सम्यक्त्व के एक-दो आदि विभिन्न भेदों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है।

१५०वें द्वार में पृथ्वीकाय आदि षट् जीवनिकाय के कुलों की संख्या का विवेचन है। प्राणियों की प्रजाति को योनि और उनकी उप-प्रजातियों को कुल कहते हैं। इन कुलों की संख्या एक करोड़ सत्तानवें लाख पचास हजार मानी गई है।

१५१वें द्वार में चौरासी लाख जीव योनियों का विवेचन किया गया है। इस द्वार में पृथ्वीकाय की सात लाख, अपकाय की सात लाख, अग्नि काय की सात लाख, वायुकाय की सात लाख, प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस लाख, साधारण वनस्पतिकाय

की चौदह लाख, द्वीन्द्रिय की दो लाख, त्रीन्द्रिय की दो लाख, चउरिन्द्रिय की दो लाख, नारक चार लाख, देवता चार लाख, तिर्यच चार लाख, मनुष्यों की चौदह लाख प्रजाति (योनि) मानी गई है।

१५२वें द्वार में गृहस्थ उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन है। ये ग्यारह प्रतिमाएं निम्न हैं- (१) दर्शनप्रतिमा, (२) व्रतप्रतिमा, (३) सामायिकप्रतिमा, (४) पौषधोपवासप्रतिमा, (५) नियमप्रतिमा, (६) सचित्तत्यागप्रतिमा, (७) ब्रह्मचर्यप्रतिमा, (८) आरम्भत्यागप्रतिमा, (९) प्रेष्यत्यागप्रतिमा, (१०) औद्देशिक-आहारत्यागप्रतिमा, (११) श्रमणभूतप्रतिमा।

१५४वें द्वार में विभिन्न प्रकार के धान्यों के बीज कितने काल तक सचित्त रहते हैं और कब निर्जीव हो जाते हैं, इसका विवेचन किया गया है।

१५५वें द्वार में कौनसी वस्तुएं क्षेत्रातीत होने पर अचित्त हो जाती हैं, इसका विवेचन किया गया है। इसी क्रम में १५६वें द्वार में गेहूं, चावल, मूंग-तिल आदि चौबीस प्रकार के धान्यों का विवेचन किया गया है।

१५७वें द्वार में समवायांगसूत्र के समान सतरह प्रकार के मरण (मृत्यु) का विवेचन है।

१५८वें और १५९वें द्वारों में क्रमशः पत्योपम और सागरोपम के स्वरूप का विवेचन उपलब्ध होता है। इसी क्रम में १६०वें और १६१वें द्वारों में क्रमशः अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणीकाल के स्वरूप का विवेचन किया गया है। उसके पश्चात् १६२वें द्वार में पुद्गलपरावर्तकाल के स्वरूप का विवेचन हुआ है।

१६३वें और १६४वें द्वारों में क्रमशः पंद्रह कर्मभूमियों और तीस अकर्मभूमियों का विवेचन किया गया है।

१६५वें द्वार में जातिमद, कुलमद आदि आठ प्रकार के मदों (अहंकारों) का विवेचन है।

१६६वें द्वार में हिंसा के दो और तियालीस भेदों का विवेचन उपलब्ध होता है।

इसी प्रकार १६७वें द्वार में परिणामों के एक सौ आठ भेदों की चर्चा की गई है।

१६८वें द्वार में ब्रह्मचर्य के अट्ठारह प्रकारों की चर्चा है और १६९वें द्वार में काम के चौबीस भेदों का विवेचन किया गया है।

इसी क्रम में आगे १७०वें द्वार में दस प्रकार के प्राणों की चर्चा की गई है।

जैनदर्शन में पांच इंद्रियां मन-वचन और काया- ऐसे तीन बल, श्वासाच्छ्वास और आयु ऐसे दस प्राण माने गए हैं।

१७१वें द्वार में दस प्रकार के कल्पवृक्षों की चर्चा है।

१७२वें द्वार में सात नरक भूमियों के नाम और गोत्र का विवेचन किया गया है।

आगे १७३ से लेकर १८२ तक के सभी द्वार नारकीय जीवन के विवेचन से सम्बद्ध हैं। १७३वें द्वार में नरक के आवासों का, १७४वें द्वार में नारकीय वेदना का, १७५वें द्वार में नारकों की आयु का, १७६वें द्वार में नारकीय जीवों के शरीर की लम्बाई आदि का विवेचन किया गया है।

पुनः १७७वें द्वार में नरक गति में प्रतिसमय उत्पत्ति और अंतराल का विवेचन है।

१७८वां द्वार किस नरक के जीवों में कौनसी द्रव्य लेश्या पाई जाती है, इसका विवेचन करता है, जबकि १७९वां द्वार नारक जीवों के अवधि-ज्ञान के स्वरूप का विवेचन करता है।

१८०वें द्वार में नारकीय जीवों को दण्डित करने वाले परमाधामी देवों का विवेचन किया गया है।

१८१वें द्वार में नारकीय जीवों की लब्धि अर्थात् शक्ति का विवेचन है, जबकि १८२वें, १८३ और १८४वें द्वारों में नारकीय जीवों के उपपात अर्थात् जन्म का विवेचन प्रस्तुत करता है। इसमें यह बताया गया है कि जीव किन योनियों में मरकर कौनसी नरक में उत्पन्न होता है और नारकीय जीव मरकर तिर्यच और मनुष्य योनियों में कहां-कहां जन्म लेते हैं।

१८५ से १९१ तक के सात द्वारों में क्रमशः एकेन्द्रिय जीवों की कायस्थिति, भवस्थिति, शरीर परिमाण, इंद्रियों के स्वरूप, इंद्रियों के विषय, एकेन्द्रिय जीवों की लेश्या तथा उनकी गति और आगति का विवेचन उपलब्ध होता है।

१९२ और १९३वें द्वारों में विकलेंद्रिय आदि की उत्पत्ति, च्यवन एवं विरहकाल (अंतराल) का तथा जन्म और मृत्यु प्राप्त करने वालों की संख्या का विवेचन है।

१९४वें द्वार में भवनपति आदि देवों की कायस्थिति, १९५वें द्वार में उनके भवनादि का स्वरूप १९६वें द्वार में इन देवों के शरीर की लम्बाई आदि और १९७वें द्वार में विभिन्न देवों में पाई जाने वाली द्रव्य लेश्या का विवेचन है। इसी क्रम में १९८वें द्वार में देवों के अवधिज्ञान के स्वरूप का और १९९वें द्वार में देवों की उत्पत्ति में होने वाले

विरहकाल का विवेचन है।

२००वें द्वार में देवों के उपपात के विरहकाल का और २०१वें द्वार में देवों के उपपात की संख्या का विवेचन किया गया है।

२०२ और २०३वें द्वारों में क्रमशः देवों की गति और आगति का विवेचन है।

२०४वां द्वार सिद्ध गति में जाने वाले जीवों के बीच जो अंतराल अर्थात् विरहकाल होता है उसका विवेचन करता है।

२०५वें द्वार में जीवों के आहारादि के स्वरूप का विवेचन है।

२०६वें द्वार में तीनसौत्रेसठ पाखंडी मतों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

२०७वें द्वार में प्रमाद के आठ भेदों का विवेचन है। २०८वें द्वार में बारह चक्रवर्तियों का, २०९वें द्वार में नौ बलदेवों का, २१०वें द्वार में नौ वासुदेवों का और २११वें द्वार में नौ प्रतिवासुदेवों का संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध होता है।

२१२वें द्वार में चक्रवर्ती, वासुदेव आदि के क्रमशः चौदह और सात रत्नों का विवेचन है।

२१३वें द्वार में चक्रवर्ती, वासुदेव आदि की नव निधियों का विवेचन किया गया है।

२१४वां द्वार विभिन्न योनियों में जन्म लेने वाले जीवों की संख्या आदि का विवेचन करता है।

२१५वें द्वार से लेकर २२०वें द्वार तक छः द्वारों में जैनकर्मसिद्धांत का विवेचन उपलब्ध होता है। इनमें क्रमशः आठ मूल प्रकृतियों, एक सौ अष्टावन उत्तर प्रकृतियों, उनके बंध आदि के स्वरूप तथा उनकी स्थिति का विवेचन किया गया है। अंतिम दो द्वारों में क्रमशः बयांलीस पुण्य प्रकृतियों का और बयासी पाप प्रकृतियों का विवेचन है।

२२१वें द्वार में जीवों के क्षायिक आदि छः प्रकार के भावों का विवेचन है, इसके साथ ही इस द्वार में विभिन्न गुणस्थानों में पाए जाने वाले विभिन्न भावों का भी विवेचन किया गया है।

२२२वां एवं २२३वां क्रमशः जीवों के चौदह और अजीवों के चौदह प्रकार का विवेचन करता है।

२२४वें द्वार में चौदह गुणस्थानों का, २२५वें द्वार में चौदह मार्गणाओं का,

२२६वें द्वार में बारह उपयोगों का और २२७वें द्वार में पंद्रह योगों का विवेचन है।

२२८वें द्वार में गुणस्थानों में रहते हुए परलोक गमन का, २२९वें द्वार में गुणस्थानों का काल-मान, २३० से २३२वें द्वार में विकुर्वणा काल, ७ प्रकार के समुद्घात और ६ पर्याप्तियों का विश्लेषण है। २३३वें द्वार में ४ प्रकार के अनाहरक, २३४वें द्वार में ७ प्रकार के भयस्थान, २३५वें द्वार में ६ प्रकार की अप्रशस्तभाषा का वर्णन है। २३६वें द्वार में श्रावक के १२ व्रतों के जो भंग बनते हैं, उनका शास्त्रीय दृष्टि से प्रामाणिक विवेचन है।

२३७वें द्वार में अठारह प्रकार के पापों का विवेचन है। २३८वें द्वार में मुनि के सत्ताइस मूल गुणों का विवेचन है।

२३९वें द्वार में श्रावक के इक्कीस गुणों का विवेचन किया गया है।

२४०वें द्वार में तिर्यच जीवों की गर्भ स्थिति के उत्कृष्ट काल का विवेचन किया गया है, जबकि २४१वें द्वार में मनुष्यों की गर्भ स्थिति के सम्बंध में विवेचन है। २४२वां द्वार मनुष्य की काय स्थिति को स्पष्ट करता है।

२४३वें द्वार में गर्भ में स्थित जीव के आहार के स्वरूप का विवेचन है, तो २४४वें द्वार में गर्भ का धारण कब सम्भव होता है, इसका विवरण दिया गया है। २४५वें और २४६वें द्वार में क्रमशः यह बताया जाता है कि एक पिता के कितने पुत्र हो सकते हैं? और एक पुत्र के कितने पिता हो सकते हैं। यह आधुनिक जीव विज्ञान की दृष्टि से भी एक रोचक विषय है।

२४७वें द्वार में स्त्री-पुरुष कब संतानोत्पत्ति के अयोग्य होते हैं, इसका विवेचन किया गया है। २४८वें द्वार में वीर्य आदि की मात्रा के सम्बंध में चर्चा की गई है। इसमें यह भी बताया है कि एक शरीर में रक्त वीर्य आदि की कितनी मात्रा होती है।

२४९वें द्वार में सम्यक्त्व आदि की उपलब्धि में किस अपेक्षा से कितना अंतराल होता है, इसका विवेचन किया गया है।

२५०वें द्वार में मनुष्य भव में किनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इसका विवरण प्रस्तुत किया गया है।

२५१वें द्वार में ग्यारह अंगों के परिमाण का और २५२वें द्वार में चौदह पूर्वों के परिमाण का विवेचन है। इनमें मुख्य रूप से यह बताया है कि किस अंग और किस पूर्व की कितनी श्लोक संख्या होती है।

२५३वें द्वार में लवण शिखा के परिमाण का उल्लेख है। २५४वां द्वार विभिन्न

प्रकार के अंगुलों (माप विशेष) का विवेचन करता है।

२५५वें द्वार में-त्रसकाय के स्वरूप का विवेचन किया गया है। २५६वें द्वार में छः प्रकार के अनन्तकार्यों की चर्चा है।

२५७वें द्वार में निमित्त शास्त्र के आठ अंगों का विवेचन है। दूसरे शब्दों में यह द्वार अष्टांग निमित्त शास्त्र का विवेचन करता है।

२५८वें द्वार में मान और उन्मान अर्थात् और माप-तौल सम्बंधी विभिन्न पैमाने दिए गए हैं।

२५९वें द्वार में अठारह प्रकार के भोज्य पदार्थों का विवेचन है। २६०वां द्वार षट् स्थानक हानि-वृद्धि नामक जैन दर्शन की विशिष्ट अवधारणा का विवेचन करता है। २६१वें द्वार में उन जीवों का निर्देश है, जिनका संहरण सम्भव नहीं होता है। इसमें बताया गया है कि श्रमणी, अपगतवेद, परिहार विशुद्ध चारित्र, पुलाकजब्धि, अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती चौदह पूर्वधर एवं आहारक लब्धि से सम्पन्न जीवों का संहरण नहीं होता है।

२६२वें द्वार में छप्पन अन्द्रीपों का विवेचन किया गया है।

२६३वें द्वार में जीवों का पास्परिक अल्पबहुत्व का विचार किया गया है।

२६४वें द्वार में युगप्रधान सूरियों अर्थात् आचार्यों की संख्या का विवेचन किया गया है।

२६५वें द्वार में ऋषभ से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त तीर्थ की स्थिति का विचार किया गया है।

२६६वां द्वार विभिन्न देवलोकों में देवता अपनी काम-वासना की पूर्ति कैसे करते हैं, इसका विवरण प्रस्तुत करता है।

२६७वें द्वार में कृष्णराजी का विवेचन है।

२६८वां द्वार अस्वाध्याय के स्वरूप का विस्तृत विवेचन करता है।

२६९वें द्वार में नन्दीश्वर द्वीप के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

२७०वें द्वार में विभिन्न प्रकार की लब्धियों (विशिष्ट शक्तियों) का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

२७१वें द्वार में छः आन्तर और छः बाह्य तपों के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया गया है।

२७२वें द्वार में दस पातालकलशों के स्वरूप का विवेचन है।

२७३वें द्वार में आहारक शरीर के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

२७४वें द्वार में अनार्य देशों का और २७५वें द्वार में आर्य देशों का विवेचन है। अंतिम २७६वां द्वार सिद्धों के इकतीस गुणों का विवरण प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार यह विशालकाय कृति २७६ द्वारों (अध्यायों) में जैनदर्शन के २७६ विशिष्ट पक्षों के विवेचन के साथ में समाप्त होती है। यही कारण है कि इस कृति को जैनधर्मदर्शन का एक छोटा विश्वकोष कहा जा सकता है।

हमें यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता होती है कि प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर ने जैन दर्शन के इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ को हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित करने का निश्चय किया है। इससे जन सामान्य और विद्वत् वर्ग दोनों का ही उपकार होगा, क्योंकि इसका हिन्दी भाषा में कोई भी अनुवाद उपलब्ध नहीं था।

परम विदुषी साध्वी श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा. ने इस विशालकाय ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद करने का जो कठिनतर कार्य किया है, वह स्तुत्य तो है, साथ ही उनकी बहुश्रुतता का परिचायक भी है। ऐसे दुरूह प्राकृत ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद करना सहज नहीं था, यह उनके साहस का ही परिणाम है कि उन्होंने न केवल इस महाकार्य को हाथ में ले लिया, अपितु प्रामाणिकता के साथ इसे सम्पूर्ण भी किया। अनुवाद में उन्होंने मूल ग्रंथ के साथ टीका को भी आधार बनाया है। इससे पाठकों को विषय को स्पष्ट रूप से समझने में सहायता मिलती है। अनुवाद सहज और सुगम है और सीधा मूल विषय को स्पर्श करता है। वस्तुतः, यह पूज्या साध्वीजी का जैनविद्या के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अवदान है और इस हेतु वे हम सभी के साधुवाद की पात्र हैं। आशा है पाठकगण इस ग्रंथ का अध्ययन-मनन कर पूज्या साध्वीजी के श्रम को सार्थक करेंगे।

यह पूज्या साध्वीवर्या श्रीहेमप्रभाश्री जी म.सा. का असीम अनुग्रह ही है कि उन्होंने इसकी भूमिका लिखने का न केवल मुझसे आग्रह किया, अपितु मेरी व्यस्तता के कारण दीर्घ अवधि तक इस हेतु प्रतीक्षा भी की। विलम्ब हेतु मैं पूज्या साध्वीजी एवं पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका (ई.सन् ३री-४थी शती)

तत्त्वार्थ सूत्र जैन परम्परा का एक मात्र ऐसा ग्रंथ है, जिसे जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों में मान्यता प्राप्त है। जैन धर्म के सभी सम्प्रदाय-दिगम्बर, श्वेताम्बर-मंदिरमार्गी, स्थानकवासी और तेरहपंथी इसे आधारभूत ग्रंथ के रूप में मान्य करते हैं। साथ ही इन सभी सम्प्रदायों में आज भी इसके पठन-पाठन की जीवित परम्परा है। अन्य धर्मावलम्बी भी इसे जैन धर्म के प्रतिनिधि ग्रंथ के रूप में स्वीकार करते हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र जैन परम्परा का प्रथम ग्रंथ है, जो संस्कृत भाषा में रचित है। इसके पूर्व जैन आचार्य अपना लेखन प्राकृत भाषा में ही करते थे। भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में सूत्र युग (ई.सन् की प्रथम शती से पांचवीं शती) में दर्शन की प्रत्येक धारा ने अपने-अपने सिद्धांत ग्रंथों को संस्कृत भाषा में सूत्र शैली में रचा, जैसे वैशेषिक सूत्र, न्यायसूत्र, सांख्यसूत्र, योग सूत्र, ब्रह्मसूत्र आदि। इस क्रम में जैन दार्शनिकों के लिए भी यह आवश्यक हुआ कि वे अपने दर्शन का ग्रंथ सूत्र शैली में संस्कृत भाषा में लिखें। इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर उमास्वाति ने संस्कृत भाषा में सूत्र शैली में इस ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ में दस अध्याय हैं। वर्तमान में इसके दो पाठ प्रचलित हैं- (१) भाष्यमान्य पाठ और (२) सर्वार्थ सिद्धि मान्य पाठ। दोनों पाठों में अध्याय संख्या तो समान है, किंतु सूत्र संख्या में थोड़ा अंतर है। भाष्य मान्य की सूत्र संख्या ३४४ है, जबकि सर्वार्थ सिद्धि मान्य पाठ की सूत्र संख्या ३५७ है। यद्यपि सर्वार्थ सिद्धि मान्य पाठ में जो अधिक सूत्र हैं, उनमें से अधिकांश सूत्र भाष्य के रूप में स्वोपज्ञ भाष्य में पाए जाते हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता उमास्वाति हैं। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में उमास्वामी नाम भी प्रचलित हैं, किंतु यह दक्षिण भारत में स्वामी, नामान्त के प्रभाव से है। ज्ञातव्य है कि दिगम्बर परम्परा में उनके नाम के साथ गृद्धपिच्छाचार्य और श्वेताम्बर परम्परा में वाचक विशेषण भी प्रचलित रहें हैं। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ भाष्य की प्रशस्ति में अपने पिता का नाम स्वाति और माता को वात्सी अर्थात् वत्सगोत्रीय बताया है। कुछ विद्वानों ने माता का नाम 'उमा' भी बताया है, किंतु उनके इस कथन का आधार क्या है, यह मुझे ज्ञात नहीं है। प्रशस्ति में उन्होंने अपने को उच्चनागरी शाखा का तथा आर्य घोष नन्दी का प्रशिष्य और आर्य शिव का शिष्य कहा है। अपने विद्यागुरु के रूप में उन्होंने क्षमण मुण्डपाद के

शिष्य आचार्य मूल का उल्लेख किया है। साथ ही अपना जन्मस्थान न्यग्रोधिका ग्राम बताते हुए कहा है कि कुसुमपुर (वर्तमान पटना) में विचरण करते हुए इस ग्रंथ की रचना की, इन तथ्यों के अतिरिक्त उनके सम्बंध में अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र की विषयवस्तु

तत्त्वार्थसूत्र को जैनधर्म और दर्शन का सारभूत ग्रंथ कहा जा सकता है। उसमें जैनधर्म के आधारभूत सप्त तत्त्वों की विवेचना हुई है। वे सात तत्त्व हैं- जीव, अजीव, आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्षा। तत्त्वार्थसूत्र दस अध्यायों में विभक्त है। इसके प्रथम अध्याय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को समन्वित रूप से मोक्षमार्ग बताते हुए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की चर्चा की गई है। इसमें सम्यग्दर्शन की चर्चा के प्रसंग में आठ अनुयोगद्वार की चर्चा भी की गई है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान की चर्चा के प्रसंग में पांच ज्ञानों के स्वरूप एवं उनके भेद-प्रभेद के विवेचन के साथ-साथ नय और निक्षेप की अवधारणा को भी प्रस्तुत किया गया है, किंतु इसमें स्यादवाद और सप्तभंगी का कोई निर्देश नहीं है। तत्त्वार्थ सूत्र के दूसरे अध्याय में जीव तत्त्व और उसके भेद प्रभेद का विवेचन प्रस्तुत करने के साथ-साथ पंचभावों की चर्चा की गई है। ये पंचभाव निम्न हैं- १. औदयिकभाव, २. औपशमिक भाव, ३. क्षायिक भाव, ४. क्षायोपरामिक भाव और ५. पारिणामिक भाव। तीसरे अध्याय में नारकीय जीवों का विवेचन करते हुए सप्तनरकों और प्रत्येक नरक जीवों की लेश्या आयु स्थिति आदि का भी विवेचन किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र का चतुर्थ अध्याय चार प्रकार के देव निकाय का वर्णन प्रस्तुत करता है। ये चार प्रकार के देव निकाय निम्न माने गए हैं - १. भवनपति, २. व्यंतर, ३. ज्योतिष्क और ४. वैमानिक।

इस अध्याय में इन देवों के उपप्रकारों, उनके निवास स्थान, आयु-मर्यादा आदि की भी चर्चा की गई है। तत्त्वार्थसूत्र का पंचम अध्याय मुख्यतः अजीव तत्त्व से सम्बंधित है। अजीव तत्त्व की इस चर्चा में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गल और काल के स्वरूप लक्षण आदि की चर्चा की गई है। इस अध्याय में द्रव्य लक्षण की भी विवेचना है। तत्त्वार्थ सूत्र का छठा अध्याय आश्रव तत्त्व के विवेचन से सम्बंधित है। इस अध्याय में पुण्य और पाप क्रमशः शुभ और अशुभ आश्रव मानकर आश्रव तत्त्व में ही समाहित कर लिया गया है। तत्त्वार्थसूत्र से पूर्व आगमों और आगमों का अनुसरण करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों में जो नवत्त्वों की चर्चा मिलती है, उसके

स्थान पर तत्त्वार्थ सूत्रकार पापतत्त्व और पुण्यतत्त्व का आस्रव तत्त्व में समावेश करके सात तत्त्वों की ही चर्चा करता है। तत्त्वार्थसूत्र का सातवां अध्याय संवर तत्त्व से सम्बंधित है। इसमें गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म का संक्षिप्त किंतु सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र का अष्टम बंध तत्त्व से सम्बंधित है। सूत्रकार ने इसमें कर्मबंध के पांच हेतुओं की चर्चा करते हुए जैन कर्मसिद्धांत का सारभूत विवेचन प्रस्तुत किया है। तत्त्वार्थ का नवा अध्याय निर्जरा तत्त्व से सम्बंधित है। इस प्रसंग में छः प्रकार के बाह्य और छः प्रकार के आभ्यन्तर तपों की गम्भीर विवेचना प्रस्तुत की गई है। तत्त्वार्थसूत्र की यह विशेषता यह है कि इसमें सम्यक् चारित्र को आश्रव निरोध का हेतु मानकर संवर के रूप में प्रतिपादित किया गया है, जबकि निर्जरा तत्त्व के सम्यक् तप के रूप में व्याख्यायित किया गया है। तपो की इस चर्चा के प्रसंग में ही नवम् अध्याय में चारों प्रकार के ध्यानो का स्वरूप, लक्षण, आलम्बन आदि की भी समीचीन चर्चा उपलब्ध होती है। इसी अध्याय में कर्मनिर्जरा के फलस्वरूप होने वाले आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं की चर्चा भी की गई है। ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्र में जैन दर्शन में बहुचर्चित आध्यात्मिक विकास के चौदह सोपान रूप गुणस्थानों की कोई चर्चा नहीं मिलती है। इस आधार पर विद्वानों की यह मान्यता है कि आध्यात्मिक विकास में गुणस्थान सिद्धांत का और ज्ञान मीमांसा के सप्तभंगी नय के सिद्धांत का विकास तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती है। आगम ग्रंथों में भी गुणस्थान सिद्धांत और सप्तभंगी नय का समीचीन विवेचन प्रायः अनुपलब्ध ही है।

इससे यह सिद्ध होता है तत्त्वार्थसूत्र गुणस्थान सिद्धांत और सप्तभंगी नय की अवधारणा के पूर्व निर्मित हुआ है। तत्त्वार्थ सूत्र का दसवां अध्यायन मोक्ष तत्त्व से सम्बंधित है। यह अध्याय अत्यंत संक्षिप्त है, इस अध्याय में मात्र ७ सूत्र हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यमान्य पाठ की प्राचीनता

तत्त्वार्थ को भाष्यमान्य और सर्वार्थसिद्धि मान्य ऐसे दो पाठ प्रचलित हैं। इनमें कौन-सा पाठ प्राचीन और मौलिक है तथा कौन-सा विकसित है ? यह विषय विवादास्पद रहा है। इस सम्बंध में विस्तृत चर्चा के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि जहां सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ भाषा, व्याकरण और विषयवस्तु तीनों की दृष्टि से अपेक्षाकृत शुद्ध, व्याकरण सन्मत और विकसित है, वहीं भाष्यमान्य मूलपाठ उसकी अपेक्षा भाषायी दृष्टि से पूर्ववर्ती और कम विकसित प्रतीत होता है। अतः भाष्यमान्यपाठ की प्राचीनता सुस्पष्ट है। सुजिका ओहियो आदि विदेशी विद्वानों का भी यही मन्तव्य है।

सर्वार्थसिद्धिमान्यपाठ परिवर्तन का उत्तरदायी कौन?

इसी से सम्बद्ध ही एक प्रश्न यह उठता है कि इस पाठ परिवर्तन का उत्तरदायी कौन है? सामान्यतया श्वेताम्बर विद्वानों की यह मान्यता रही है कि यह पाठ परिवर्तन दिगम्बर आचार्यों के द्वारा किया गया, किंतु पूर्व चर्चा में मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि भाष्य मान्य पाठ का संशोधन करके जो सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ निर्धारित हुआ है, उस परिवर्तन का दायित्व दिगम्बर आचार्यों पर नहीं जाता है। यदि पूज्यपाद देवनन्दी ने ही इस पाठ का संशोधन किया होता तो वे 'एकादश जिने' आदि उन सूत्रों को निकाल देते या संशोधित कर देते जो दिगम्बर परम्परा के पक्ष में नहीं जाते हैं। इस सम्बंध में मेरा निष्कर्ष यह है कि सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ किसी यापनीय आचार्य द्वारा संशोधित है। पूज्यपाद देवनन्दी को जिस रूप में उपलब्ध हुआ है, उन्होंने उसी रूप में उसकी टीका लिखी है। पुनः यह संशोधित पाठ भी स्वयं तत्त्वार्थभाष्य पर आधारित है। इसमें अनेक भाष्य के वाक्य या वाक्यांश सूत्र के रूप में ग्रहीत कर लिए गए हैं। जहां तक भाष्य मान्य पाठ का प्रश्न है, वहीं तत्त्वार्थसूत्र का मूल पाठ रहा है और श्वेताम्बर आचार्यों ने भी कोई पाठ संशोधन नहीं किया है- सिद्धसेन गणि को वह पाठ जिस रूप में उपलब्ध हुआ है, उन्होंने उसे वैसा ही रखा है, यदि वे उसे संशोधित करते या सवार्थसिद्धि के पाठ के आधार पर उसे अपनी परम्परानुसार नया रूप देते, तो फिर मूल एवं भाष्य में जिन मूल भेदों की चर्चा वे करते हैं, वह सम्भव ही नहीं होती, अतः पाठ संशोधन न तो दिगम्बरों ने किया है और न श्वेताम्बरों ने। उसका उत्तरदायित्व तो यापनीय आचार्यों पर जाता है।

तत्त्वार्थभाष्य की स्वोपज्ञता

तत्त्वार्थाधिगम भाष्य की स्वोपज्ञता भी एक विवाद का विषय रही है। इस संदर्भ में समस्त विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि भाष्य की स्वोपज्ञता निर्विवाद है। भाष्य तत्त्वार्थसूत्र की अन्य टीकाओं की अपेक्षा अविकसित है, उसमें गुण स्थान, स्याद्वाद, सप्तभंगी जैसे विषयों का स्पष्ट अभाव है। पं. नाथूरामजी प्रेमी आदि कुछ दिगम्बर विद्वानों ने भी उसकी स्वोपज्ञता को स्वीकार किया है, अतः भाष्य की स्वोपज्ञता निर्विवाद है।

भाष्य में जो वस्त्र-पात्र सम्बंधी उल्लेख है, वे वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा के पोषक न होकर उस स्थिति के सूचक है, जो ई.सन् की दूसरी-तीसरी शती में उत्तरभारत के निर्ग्रंथ संघ की थी और जिनका अंकन मथुरा की मुनि प्रतिमाओं में भी हुआ है। मथुरा के इस काल के अंकनों में मुनि नग्न है, किंतु उसके हाथ में कम्बल और मुखवस्त्रिका है।

कुछ मुनि नग्न होकर भी पात्र युक्त झोली हाथ में लिए हुए हैं, तो कुछ झोली रहित मात्र पात्र लिए हुए हैं, यह सब उस संक्रमण काल का सूचक है, जिसके कारण विवाद हुआ और फलतः श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा (उत्तरभारत की अचेल धारा) का विकास हुआ।

भाष्य में मुनि वस्त्र के लिए चीवर शब्द का प्रयोग हुआ। कल्पसूत्र में भी महावीर जिस एक वस्त्र को लेकर दीक्षित हुए और एक वर्ष और एक माह पश्चात् जिसका परित्याग कर दिया था—उसे चीवर कहा गया है। जिस प्रकार महावीर लगभग एक वर्ष तक एक वस्त्र को रखते हुए भी नग्न रहे। यही स्थिति उमास्वाति के काल के सचेल निर्ग्रन्थ श्रमणों की है— वे सचेल होकर भी नग्न हैं। पाली त्रिपिटक में निर्ग्रन्थों को जो एक शाटक कहा गया है, वह स्थिति भी तत्त्वार्थ भाष्य के काल तक उत्तर भारत में यथावत चल रही थी। मथुरा में एक ओर वस्त्र धारण किए एक भी मुनि प्रतिमा नहीं मिली, तो दूसरी ओर पूर्णतः निर्वस्त्र प्रतिमा भी नहीं मिली है। क्योंकि उनके गण, कुल, शाखाएं मान्य कल्पसूत्र के अनुसार हैं। अतः वे श्वेताम्बरों के पूर्वज आचार्य हैं, इसमें भी संदेह नहीं रह जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ता का काल

उमास्वाति के काल निर्णय के संदर्भ में जो भी प्रयास हुए हैं, वे सभी उन्हें प्रथम से चौथी शताब्दी के मध्य सिद्ध करते हैं। उमास्वाति के ग्रंथों में हमें सप्तभंगी और गुणस्थान सिद्धांत का सुनिश्चित स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि गुणस्थान सिद्धांत सम्बंधित कुछ पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि ये अवधारणाएं अपने स्वरूप के निर्धारण की दिशा में गतिशील थीं। इससे हम इस निष्कर्ष पर तो पहुंच ही सकते हैं कि उमास्वाति इन अवधारणाओं के सुनिर्धारित एवं सुनिश्चित होने के पूर्व ही हुए हैं। तत्त्वार्थसूत्र की जो प्राचीन टीकाएं उपलब्ध हैं, उनमें श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ भाष्य को और दिगम्बर परम्परा में सर्वार्थसिद्धि को प्राचीनतम माना जाता है। इनमें से तत्त्वार्थ भाष्य में गुणस्थान और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा उपलब्ध नहीं है, जबकि सर्वार्थसिद्धि में गुणस्थान का स्पष्ट एवं विस्तृत विवरण है। तत्त्वार्थसूत्र की परवर्ती टीकाओं में सर्वप्रथम अकलंक तत्त्वार्थ राजवार्तिक में चौथे अध्याय के अंत में सप्तभंगी का तथा १९वें अध्याय के प्रारंभ में गुणस्थान सिद्धांत का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हैं। तत्त्वार्थ की टीकाओं के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों में विशेष रूप से श्वेताम्बर आगमों में समवायांग में जीवठाण के नाम से, यापनीय ग्रंथ षट्खण्डागम में 'जीवसमास' के नाम से और दिगम्बर

परम्परा में कुन्दकुन्द के ग्रंथों गुणठाण के नाम से इस सिद्धांत का उल्लेख मिलता है। ये सभी ग्रंथ लगभग पांचवीं शती के आसपास के हैं। इसलिए इतना तो निश्चित है कि तत्त्वार्थ की रचना चौथी-पांचवीं शताब्दी के पूर्व की है। यह सही है कि ईसा दूसरी शताब्दी से वस्त्र-पात्र के प्रश्न पर विवाद प्रारम्भ हो गया, फिर भी यह निश्चित है कि पांचवीं शताब्दी के पूर्व श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाए थे। निर्ग्रथसंघ (दिगम्बर), श्वेतपट्टमहाश्रमणसंघ और यापनीय संघ का सर्वप्रथम उल्लेख हल्सी के पांचवीं शती के अभिलेखों में ही मिलता है।

मूलसंघ का उल्लेख उससे कुछ पहले ई.सन् ३७० एवं ४२१ का है। तत्त्वार्थ के मूलपाठों की कहीं दिगम्बर परम्परा से, कहीं श्वेताम्बर परम्परा से और कहीं यापनीय परम्परा से संगति होना और कहीं विसंगति होना, यही सूचित करता है कि वह संघ भेद के पूर्व की रचना है। मुझे जो संकेत सूत्र मिले हैं, उससे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थ उस काल की रचना है जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय स्पष्ट रूप से विभाजित होकर अस्तित्व में नहीं आए थे। श्री कापड़ियाजी ने तत्त्वार्थ को प्रथम शताब्दी के पश्चात् चौथी शताब्दी के पूर्व की रचना माना है। तत्त्वार्थसूत्र भाष्य में ऐसे भी अनेक तथ्य हैं जो न तो सर्वथा वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा से और न ही दिगम्बर परम्परा से मेल खाते हैं। 'हिस्ट्री ऑफ मिडिवल स्कूल ऑफ इण्डियन लाजिक' में तत्त्वार्थसूत्र की तिथि १-८५ ए.डी. स्वीकार की गई है। प्रो.विंटरनित्ज मानते हैं कि उमास्वाति उस युग में हुए जब उत्तर भारत में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् नहीं हुए थे। उनका ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र सपष्टतः सम्प्रदाय भेद के पूर्व का है। सम्प्रदाय भेद के सम्बंध में सर्वप्रथम हमें जो साहित्यिक सूचना उपलब्ध होती है, वह आवश्यक मूलभाष्य की है, जो आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यक के मध्य निर्मित हुआ था। उसमें वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् ही बोटिकों की उत्पत्ति का अर्थात् उत्तर भारत में अचेल और सचेल परम्पराओं के विभाजन का उल्लेख है। साथ ही उसमें यह भी उल्लेख है कि मुनि के सचेल या अचेल होने का विवाद तो आर्यकृष्ण और आर्य शिव के बीच वीर नि.सं. ६०९ में हुआ था, किंतु परम्परा भेद उनके शिष्ट कौडिण्य और कोट्टवीर से हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि स्पष्ट रूप से परम्परा भेद वीर नि.सं. ६०९ के पश्चात् हुआ है। सामान्यतया वीर निर्माण विक्रम संवत् से ४७० वर्ष पूर्व माना जाता है, किंतु इसमें ६० वर्ष का विवाद है, जिसकी चर्चा आचार्य हेमचंद्र से लेकर समकालीन अनेक विद्वान भी कर रहे हैं। इतिहासकारों ने चंद्रगुप्त, अशोक और सम्प्रति आदि का जो काल निर्धारित किया है,

उसमें चंद्रगुप्त और भद्रबाहु की तथा सम्प्रति और सुहस्ति की समकालिकता वीर निर्वाण को विक्रम संवत् ४१० वर्ष पूर्व मानने पर ही अधिक बैठती है। यदि वीर निर्वाण विक्रम संवत् के ४१० वर्ष पूर्व हुआ है तो यह मानना होगा कि संघभेद ६०९-४१० अर्थात् विक्रम संवत् १९९ में हुआ। यदि इसमें भी हम कौडिण्य और कोट्टवीर का काल ६० वर्ष और जोड़े तो यह संघभेद लगभग विक्रम संवत् २५९ अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी उत्तरार्द्ध में हुआ होगा। इस संघभेद के फलस्वरूप श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा का स्पष्ट विकास तो इसके भी लगभग सौ वर्ष पश्चात् हुआ होगा। क्योंकि पांचवीं शती के पूर्व इन नामों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अतः उमास्वाति विक्रम की चौथी शती या उसके भी पूर्व हुए हैं।

तत्त्वार्थभाष्य की प्रशस्ति तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता के काल का निर्णय करने का आज एकमात्र महत्त्वपूर्ण साधन है। उस प्रशस्ति के अनुसार तत्त्वार्थ के कर्ता उच्चैर्नागर शाखा में हुए। उच्चैर्नागर शाखा का उच्चनागरी शाखा के रूप में कल्पसूत्र में उल्लेख है। उसमें यह भी उल्लेख है कि यह शाखाआर्य शांतिश्रेणिक से प्रारम्भ हुई। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार शांतिश्रेणिक आर्यवज्र के गुरु सिंहगिरि के गुरुभ्राता थे। श्वेताम्बर पट्टावलियों में आर्यवज्र का स्वर्गवास काल वीर निर्वाण सं. ५८४ माना जाता है। अतः आर्यशांति श्रेणिक का जीवन काल वीर निर्वाण ४७० से ५५० के बीच मानना होगा। फलतः आर्यशांतिश्रेणिक के उच्चनागरी की उत्पत्ति विक्रम की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध और द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में किसी समय हुई। इसकी संगति मथुरा के अभिलेखों से भी होती है। उच्चैर्नागर शाखा का प्रथम अभिलेख शक सं. ५ अर्थात् विक्रम संवत् १४० का है, अतः उमास्वाति का काल विक्रम की द्वितीय शताब्दी पश्चात् ही सिद्ध होगा। उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य में उन्हें उच्चैर्नागरा शाखा का बताया गया है। इस शाखा के नौ अभिलेख हमें मथुरा से उपलब्ध होते हैं। जिन पर कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव का उल्लेख भी है। यदि इन पर अंकित सम्वत् शक संवत् हो तो यह काल प्राक. संवत् ५ से ८७ के बीच आता है; इतिहासकारों के अनुसार कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव ई. सन् ७८ से १७६ के बीच हुए हैं। विक्रम संवत् की दृष्टि से उनका यह काल शक संवत् १३५ से २३३ के बीच आता है अर्थात् विक्रम संवत् की द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्द्ध और तृतीय शताब्दी का पूर्वार्द्ध। अभिलेखों के काल की संगति आर्य शांतिश्रेणिक और उनसे उत्पन्न उच्चनागरी शाखा के काल से ठीक बैठती है। उमास्वाति इसके पश्चात् ही कभी

हुए हैं। तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वाति ने अपने प्रगुरु घोषनन्दी श्रमण और गुरु शिवश्री का उल्लेख किया है। मुझे मथुरा के अभिलेखों में खोज करने पर स्थानिक कुल के गणी उगहिणी के शिष्य वाचक घोषक का उल्लेख उपलब्ध हुआ है। स्थानिककुल भी उसी कोटिकगण का कुल है, जिसकी एक शाखा उच्चानागरी है। कुछ अभिलेखों में स्थानिक कुल के साथ वज्री शाखा का भी उल्लेख हुआ है। यद्यपि उच्चानागरी और वज्री दोनों ही शाखाएं कोटिकगण की हैं। मथुरा के एक अन्य अभिलेख में 'निवर्तना सीवद' ऐसा उल्लेख भी मिलता है। निवर्तना सम्भवतः समाधि स्थल की सूचक है, यद्यपि इससे ये आर्यघोषक और आर्य शिव निश्चित रूप से ही उमास्वाति के गुरु एवं प्रगुरु हैं, इस निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन है, फिर भी सम्भावना तो व्यक्त की ही जा सकती है। दूसरे कुल भेद या शाखा भेद के आधार पर उन्हें प्रगुरु या गुरु नहीं मानना भी समीचीन नहीं है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहां गुरु या प्रगुरु में कुल या शाखा भेद सम्भव है।

आर्य कृष्ण और आर्य शिव जिनके बीच वस्त्र-पात्र सम्बंधी विवाद वीर नि.सं. ६०९ में हुआ था। उन दोनों के उल्लेख हमें मथुरा के कुषाणकालीन अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि आर्य शिव के सम्बंध में जो अभिलेख उपलब्ध होते हैं, उसके खण्डित होने से संवत् का निर्देश तो स्पष्ट नहीं है, किंतु 'निवर्तनासीवद' ऐसा उल्लेख है जो इस तथ्य का सूचक है कि उनके समाधि स्थल पर कोई निर्माण कार्य किया गया था। आर्य कृष्ण का उल्लेख करने वाला अन्य लेख स्पष्ट है और उसमें शक संवत् ९५ निर्दिष्ट है। इस अभिलेख में कोटीयगण, स्थानीयकुल और वैरी शाखा का उल्लेख भी है। इस आधार पर आर्य शिव और आर्य कृष्ण का काल वि.सं. २० के लगभग आता है। वस्त्र-पात्र विवाद का काल वीर नि.सं. ६०९-४१० = वि.सं. १९९ मानने पर इसकी संगति उपर्युक्त अभिलेख से हो जाती है, क्योंकि आर्य कृष्ण की यह प्रतिमा उनके स्वर्गवास के ३०-४० वर्ष बाद ही कभी बनी होगी। उससे यह बात भी पुष्ट होती है कि आर्य शिव आर्य कृष्ण के ज्येष्ठ थे। कल्पसूत्र स्थविरावली में भी उन्हें ज्येष्ठ कहा गया है। सम्भावना यह भी हो सकती है ये दोनो गुरुभाई हों और उनमें आर्य शिव ज्येष्ठ और आर्य कृष्ण कनिष्ठ हों या आर्य शिव आर्य कृष्ण के गुरु हों। यद्यपि विशेषावश्यकभाष्य में साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण यह क्रम उलट दिया गया है।

इन आर्य शिव को उमास्वाति का प्रगुरु मानने पर उनका काल तीसरी शताब्दी का पूर्वार्ध होगा, किंतु तीसरी शती के उत्तरार्ध से चौथी शताब्दी पूर्वार्ध तक के जो भी

जैन शिलालेख उपलब्ध हैं, उनमें कहीं भी श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। वस्त्र, पात्र आदि के उपयोग को लेकर विक्रम संवत् की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध से विवाद प्रारम्भ हो गया था, किंतु स्पष्ट रूप से श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय परम्पराओं के भेद स्थापित नहीं हुए थे। वि.सं. की छठी शताब्दी के पूर्वार्ध के अर्थात् ई.सन् ४७५ से ४९० के अभिलेखों में सर्वप्रथम श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ (श्वेताम्बर), निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ (दिगम्बर) और यापनीय संघ के उल्लेख मिलते हैं। प्रो. मधुसूदन ढाकी ने उमास्वाति का काल चतुर्थ शती निर्धारित किया है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर मैं इसे विक्रम संवत् की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध से चौथी शती के पूर्वार्द्ध के बीच मानना चाहूंगा। चाहे हम उमास्वाति का काल प्रथम से चतुर्थ शती के बीच कुछ भी मानें, किंतु इतना निश्चित है कि वे संघ भेद के पूर्व के हैं। यदि हम उमास्वाति के प्रगुरु शिव का समीकरण आर्य शिव, जिनका उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में भी है और जो उत्तर भारत में वस्त्र-पात्र सम्बंधी विवाद के जनक थे, से करते हैं तो समस्या का समाधान मिलने में सुविधा होती है। आर्य शिव वीर निर्वाण सं. ६०९ अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उपस्थित थे। इस आधार पर उमास्वाति तीसरी के उत्तरार्ध और चौथी के पूर्वार्द्ध में हुए होंगे, ऐसा माना जा सकता है। यह भी सम्भव है कि वे इस परम्परा भेद में भी कौण्डिन्य और कौट्टवीर के साथ संघ से अलग न होकर मूलधारा से जुड़े रहे हों। फलतः उनकी विचारधारा में यापनीय और श्वेताम्बर दोनों ही परम्परा की मान्यताओं की उपस्थिति देखी जाती है। वस्त्र-पात्र को लेकर वे श्वेताम्बरों और अन्य मान्यताओं के संदर्भ में यापनीयों के निकट रहे हैं।

इस समस्त चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उमास्वाति का काल विक्रम संवत् की तीसरी और चौथी शताब्दी के मध्य है और इस काल तक वस्त्र-पात्र सम्बंधी विवादों के बावजूद भी श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीयों का अलग-अलग साम्प्रदायिक अस्तित्व नहीं बन पाया था। उमास्वाति निश्चित ही स्पष्ट सम्प्रदाय भेद और साम्प्रदायिक मान्यताओं के निर्धारण के पूर्व के आचार्य हैं। वे उस संक्रमण काल में हुए हैं, जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदाय और उनकी साम्प्रदायिक मान्यताएं हो रही थीं।

तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा दोनों ही परम्परा के विद्वान तत्त्वार्थसूत्र और

उसके कर्ता को अपनी परम्परा का सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं। दोनों ही परम्पराओं में हुए इन प्रयत्नों से इस दिशा में पर्याप्त उहापोह तो हुआ, लेकिन अपनी-अपनी आग्रहपूर्ण दृष्टियों के कारण किसी ने भी सत्य को देखने का प्रयास नहीं किया। इसी क्रम में पं. नाथूरामजी प्रेमी जैसे कुछ विद्वानों ने तत्त्वार्थसूत्र के मूलपाठ का श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं से आंशिक विरोध तथा पुण्यप्रकृति के प्रसंग में उसकी यापनीय परम्परा के षट-खण्डागम से निकटता को देखकर यह निष्कर्ष निकाला कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ता उमास्वाति मूलतः यापनीय परम्परा के थे। आदरणीय नाथूरामजी प्रेमी के तटस्थ चिंतन से प्रभावित होकर प्रारम्भ में पं. सुखलालजी एवं पं. दलसुखभाई ने भी इस सम्भावना को स्वीकार किया था कि तत्त्वार्थसूत्र सम्भवतः यापनीय परम्परा का हो, किंतु बाद में उन्होंने 'तत्त्वार्थसूत्र और जैनागम समन्वय' नामक ग्रंथ देखने के पश्चात् अपना निर्णय बदला और पुनः यह माना कि तत्त्वार्थसूत्र मूलतः श्वेताम्बर परम्परा का ग्रंथ है। पं. नाथूरामजी प्रेमी के मत का समर्थन करते हुए 'यापनीय और उनका साहित्य' नामक ग्रंथ में श्रीमती कुसुम पटोरिया ने भी तत्त्वार्थसूत्र की गणना यापनीय साहित्य में की है।

मैं जब यापनीय सम्प्रदाय पर अपने ग्रंथ का लेखन कर रहा था, तब संयोग से मुझे दोनों ही परम्पराओं के विद्वानों के विचारों का अध्ययन करने का अवसर मिला, साथ ही आदरणीय पं. नाथूरामजी और डॉ. कुसुम पटोरिया के दृष्टिकोण का भी परिचय मिला। मुझे यह प्रतीत हुआ कि तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के संदर्भ में अभी तक जो चिंतन हुआ है वह कहीं न कहीं साम्प्रदायिक आग्रहों के घेरे में खड़ा है। सभी विद्वान किसी न किसी रूप में उसे सम्प्रदाय के चश्मे से देखने का प्रयत्न करते रहे। सभी विद्वान लगभग यह मानकर चल रहे थे कि 'श्वेताम्बर' और 'यापनीय' सम्प्रदाय पहले अस्तित्व में आए और तत्त्वार्थसूत्र इनके बाद निर्मित हुआ है। दुर्भाग्य से किसी ने भी साम्प्रदायिक विभेद और मान्यताओं के स्थरीकरण के पूर्व तत्त्वार्थसूत्र को रखकर उसकी परम्परा को देखने का प्रयत्न नहीं किया। यही कारण रहा कि उसको किसी परम्परा विशेष के साथ जोड़ने में विद्वानों ने सम्यक् तर्कों के स्थान पर कुतर्कों का ही अधिक सहारा लिया और यह प्रयत्न किया गया कि येन-केन प्रकारेण उसे अपनी परम्परा का सिद्ध किया जाए। यद्यपि पं. नाथूरामजी प्रेमी और पं. सुखलालजी ने इस दिशा में थोड़ी तटस्थता का परिचय दिया और इस सत्यता को स्वीकार किया कि तत्त्वार्थसूत्र के मूलपाठ में कुछ ऐसे तथ्य हैं, जो यह बताते हैं कि उसका श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं की स्थिर मान्यताओं

से विरोध है। इसी कारण सम्भवतः पं.नाथूरामजी प्रेमी ने इस ओर झुकने का प्रयत्न किया कि यह यापनीय परम्परा का ग्रंथ है। उनके इस तर्क में कुछ बल भी है, क्योंकि परम्पराओं के विरोध में जाती हैं, वहीं पुण्यप्रकृति की चर्चा के प्रसंग में वह यापनीयों के अधिक निकट भी है, फिर भी जब तक हम यह सुनिश्चित नहीं कर लें कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना और यापनीय की उत्पत्ति में कौन पूर्ववर्ती है, तब तक हमें यह कहने का अधिकार नहीं मिल जाता कि तत्त्वार्थसूत्र यापनीय ग्रंथ है।

प्रस्तुत भूमिका में मैंने तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा के प्रश्न को लेकर सभी परम्परागत विद्वानों की मान्यताओं की समीक्षा की है और यह देखने का प्रयत्न किया है कि यथार्थ स्थिति क्या है। इससे मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि तत्त्वार्थसूत्र उस काल की रचना है जब जैनों में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आए थे। हां इतना अवश्य था कि आचार्यों में आचार एवं दर्शन के सम्बंध में कुछ मान्यता भेद थे- जैसे कि आज भी एक ही सम्प्रदाय में देखे जाते हैं, वस्तुतः तत्त्वार्थ की रचना उत्तर-भारत की उस निर्ग्रंथ धारा में हुई, जिससे आगे चलकर श्वेताम्बर एवं यापनीय परम्पराओं का विकास हुआ है।

उमास्वाति उस काल में हुए हैं जब वैचारिक एवं आचारागत मतभेदों के होते हुए भी साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण नहीं हुआ था। इसी का यह परिणाम है कि उनके ग्रंथों में कुछ तथ्य श्वेताम्बरों के अनुकूल और कुछ प्रतिकूल, कुछ तथ्य दिगम्बरों के अनुकूल और कुछ प्रतिकूल तथा कुछ यापनीयों के अनुकूल एवं कुछ उनके प्रतिकूल पाए जाते हैं। वस्तुतः उनकी जो भी मान्यताएं हैं, उच्चनागर शाखा की मान्यताएं हैं। अतः मान्यताओं के आधार पर वे कोटिकगण की उच्चनागर शाखा के थे। उन्हें श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय मान लेना सम्भव नहीं है।

उमास्वाति को यापनीय ग्रंथ षट्खण्डागम आदि का अनुसरणकर्ता मानकर यापनीय कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि यापनीय परम्परा पांचवीं शताब्दी के पश्चात् ही अस्तित्व में आई है और षट्खण्डागम आदि में गुणस्थान सिद्धांत का विस्तृत विवरण होने से वे तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती हैं। वस्तुतः उमास्वाति श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही धाराओं की पूर्वत उत्तर भारत की निर्ग्रंथ धारा की उच्चनागर शाखा में हुए हैं। यह सम्भव है कि वे सचेल पक्ष के समर्थक रहे हों, किंतु इस आधार पर उन्हें श्वेताम्बर नहीं कहा जा सकता। अपवाद रूप में सचेलता तो यापनीयों को भी मान्य थी। हम देखते हैं कि मथुरा के

शिल्प में मुनियों की मूर्तियों के जो अंकन हैं, उसमें वे सचेल और सपात्र होकर भी नग्न हैं। इन मूर्तियों के अंकन का काल और उमास्वाति का काल एक ही है। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि चाहे उमास्वाति को अपवाद मार्ग में मुनि के द्वारा वस्त्र और पात्र ग्रहण करने के विरोधी भले न हो, किंतु वे उस अर्थ में सचेलता के समर्थक भी नहीं हैं, जिस अर्थ में आज श्वेताम्बर उसका अर्थ ग्रहण करते हैं।

वे श्वेताम्बर और यापनीय दोनों के पूर्वज हैं। यद्यपि इतना निश्चित है कि वे दक्षिण भारत की प्राचीन निर्ग्रंथ धारा से सीधे सम्बद्ध नहीं थे, क्योंकि वे उत्तर भारत में हुए हैं। उनका जन्म स्थान न्यग्रोधिका और उनकी उच्चनागर शाखा का उत्पत्ति स्थल उच्चकल्पनगर आज भी उत्तरपूर्व मध्यप्रदेश में सतना के निकट नागोद और ऊंचेहरा के नाम से अवस्थित हैं। उनका विहार-क्षेत्र भी मुख्य रूप से पटना से मथुरा तक रहा है। इस सबसे यही फलित होता है कि वे दक्षिण भारत की अचेल धारा से सम्बद्ध न होकर उत्तर भारत की उस धारा से सम्बद्ध रहे हैं, जिससे आगे चलकर श्वेताम्बर और यापनीय देशों परम्पराओं का विकास हुआ है। दक्षिण भारत की निर्ग्रंथ परम्परा जो आगे चलकर दिगम्बर नाम से अभिहित हुई, उनसे यापनीयों के माध्यम से ही परिचित हुई है।

तत्त्वार्थसूत्र के आधारभूत ग्रंथ

उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र के आधार के रूप में जहां श्वेताम्बर विद्वान श्वेताम्बर मान्य आगमों को प्रस्तुत करते हैं, वहीं दिगम्बर विद्वान षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रंथों का तत्त्वार्थसूत्र का आधार बताते हैं, किंतु ये दोनों ही मान्यताएं भ्रान्त हैं, क्योंकि उमास्वाति के काल तक न तो षट्खण्डागम और न कुन्दकुन्द के ग्रंथ अस्तित्व में आए थे और न श्वेताम्बर मान्य आगमों की वल्लभी वाचना ही हो पाई थी। षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रंथ जिनमें गुणस्थान सिद्धांत का विकसित रूप उपलब्ध है, तत्त्वार्थ के पूर्ववर्ती नहीं हो सकते हैं। गुणस्थान सिद्धांत और सप्तभंगी की अवधारणाएं जो तत्त्वार्थ में अनुपस्थित हैं, वे लगभग पांचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अस्तित्व में आईं। अतः उनसे युक्त ग्रंथ तत्त्वार्थ के आधार नहीं हो सकते हैं। वल्लभी की वाचना भी विक्रम की छठीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ही सम्पन्न हुई है, अतः वल्लभ वाचना में सम्पादित आगम-पाठ भी तत्त्वार्थसूत्र का आधार नहीं माने जा सकते हैं, किंतु यह मानना भी भ्रान्त होगा कि तत्त्वार्थ का आधार आगम ग्रंथ नहीं थे। वल्लभी वाचना में आगमों का संकलन एवं सम्पादन तो हुआ तथा उन्हें लिपिबद्ध भी किया गया, किंतु उससे पूर्व उन आगम ग्रंथों का अस्तित्व

तो था ही, क्योंकि वल्लभी में कोई नए आगम नहीं बने थे। उमास्वाति के सम्मुख जो आगम ग्रंथ उपस्थित थे, वे न तो देवर्धि की वल्लभी (वीर.सं.१८०) के थे और न स्कन्दिल की माथुरी वाचना वीर नि.सं. ८४० के थे, अपितु उसके पूर्व की आर्यरक्षित की वाचना के थे। यही कारण है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र की अवधारणाओं में भी कहीं-कहीं वल्लभी वाचना से भिन्नता परिलक्षित होती है। ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी में जो आगम ग्रंथ उपस्थित थे, वे ही उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का उपजीव्य बने हैं। साथ ही यह भी सत्य है कि उन प्राचीन आगमों का माथुरी और वल्लभी वाचनाओं में संकलन एवं सम्पादन हुआ है, नव-निर्वाण नहीं, अतः यह मानना भी बिलकुल गलत होगा कि तत्त्वार्थ के कर्ता उमास्वाति के सम्मुख जो आगम उपस्थित थे व वर्तमान श्वेताम्बर मान्य आगमों से बिलकुल भिन्न थे। वे मात्र इनका पूर्व संस्करण थे।

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र और उसका टीका साहित्य विपुल मात्रा में प्रकाशित है। श्वेताम्बर परम्परा में स्वोमज्ञ भाष्य और सिद्धसेन गणित की टीका में प्रकाशित है। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोक वार्तिक आदि टीकाएं हिन्दी अनुवाद के साथ भी प्रकाशित हैं। श्वेताम्बर परम्परा को मान्य स्वोपज्ञ दिगम्बर विद्वान पं. खूबचंदजी के द्वारा हिन्दी में अनुदित होकर प्रकाशित हुआ था, किंतु अब वह भी अनुपलब्ध है, सिद्धगणि की टीका का हिन्दी में कोई अनुवाद नहीं हुआ है। मूलतत्त्वार्थ सूत्र के हिन्दी अनुवाद जो व्याख्या के साथ उपलब्ध हैं, उनमें श्वेताम्बर परम्परा में पं. सुखलालजी और केवलमुनिजी के विशेष लोकप्रिय हैं। दिगम्बर परम्परा में पं. फूलचंदजी और पं. कैलाशचंद्रजी के अनुवाद विशेष लोकप्रिय हुए हैं। गुजराती में भी पं. सुखलालजी का अनुवाद ही विशेष रूप में प्रचलित है।

जहां समग्र तत्त्वार्थसूत्र के अंग्रेजी अनुवाद का प्रश्न है, दीक्षित एवं नथमलजी टांटिया के अनुवाद ही हमारी जानकारी में हैं। दीक्षितजी द्वारा अनुवादित संस्करण एल.डी. इन्स्टीट्यूट से प्रकाशित हुआ था, अब उसकी उपलब्धता की क्या स्थिति है मुझे ज्ञात नहीं है। प्रो. नथमलजी टांटिया का अंग्रेजी अनुवाद जो ग्रेट ब्रिटेन (इंग्लैण्ड) से प्रकाशित हुआ है, उसमें कहीं-कहीं पारिभाषिक शब्दों के ऐसे अंग्रेजी रूपांतरण हुए हैं, जिसे सामान्य पाठक सहज रूप में समझ नहीं पाता है जैसे आस्रव के लिए इनकम शब्द। दूसरे यह संस्करण इतना महंगा है कि सामान्य भारतीय इसे खरीद भी नहीं सकता है। इसलिए एक ऐसे संस्करण की अपेक्षा थी जो जनसामान्य की ग्रहण सामर्थ्य में हो। श्री छगनलालजी

जैन साहब का यह संस्करण इसी कमी की पूर्ति करता है, उन्होंने अधिक श्रम करके इसे अंग्रेजी और हिन्दी पाठकों के लिए सुग्राह्य बनाया है। उनका हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद मूलग्रंथ के अति निकट है। मेरी यह अपेक्षा है कि उनकी यह कृति जन-जन में प्रसारित हो, ताकि उनका श्रम सार्थक हो सके। मेरी उनके प्रति यही शुभकामना है कि वे स्वस्थ रहकर जैन ग्रंथों के अंग्रेजी अनुवाद के माध्यम से जैन विद्या को विश्व में प्रसारित करें।

अध्यात्मवाद की भूमिका

ई.सन् की १७वीं १८वीं शती

मानव जाति को दुःखों से मुक्त करना ही सभी साधना पद्धतियों का प्रमुख लक्ष्य था। उन्होंने इस तथ्य को गहराई से समझने का प्रयत्न किया कि दुःख का मूल किसमें है। इसे स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि समस्त भौतिक और मानसिक दुःखों का मूल व्यक्ति की भोगासक्ति में है। यद्यपि भौतिकवाद मनुष्य की कामनाओं की पूर्ति के द्वारा दुःखों के निवारण का प्रयत्न करता है, किंतु वह उस कारण का उच्छेद नहीं कर सकता, जिससे दुःख का यह स्रोत प्रस्फुटित होता है। भौतिकवाद के पास मनुष्य की तृष्णा को समाप्त करने का कोई उपाय नहीं है। वह इच्छाओं की पूर्ति के द्वारा मानवीय आकांक्षाओं को परितृप्त करना चाहता है, किंतु यह अग्नि में डाले गए घृत के समान उसे परिशांत करने की अपेक्षा बढ़ाता ही है। उत्तराध्ययनसूत्र में बहुत ही स्पष्ट रूप से कहा गया है कि चाहे स्वर्ण और रजत के कैलाश के समान असंख्य पर्वत भी खड़े हो जाए, किंतु वे मनुष्य की तृष्णा को पूरा करने में असमर्थ हैं। न केवल जैनधर्म अपितु सभी आध्यात्मिक धर्मों में एकमत से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि समस्त दुःखों का मूल कारण आसक्ति, तृष्णा या ममत्व बुद्धि है, किंतु तृष्णा की समाप्ति का उपाय इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं है। भौतिकवाद हमें सुख और सुविधा के साधन तो दे सकता है, किंतु वह मनुष्य की आसक्ति या तृष्णा का निराकरण नहीं कर सकता। इस दिशा में उसका प्रयत्न तो टहनियों को काटकर जड़ को सींचने के समान है। जैन आगमों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है, उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है।

यदि हम मानव जाति को स्वार्थ, हिंसा, शोषण, भ्रष्टाचार एवं तज्जनित दुःखों से मुक्त करना चाहते हैं, तो हमें भौतिकवाद दृष्टि का त्याग करके आध्यात्मिक दृष्टि का विकास करना होगा।

अध्यात्मवाद क्या है?

किंतु यहां हमें यह समझ लेना होगा कि अध्यात्मवाद से हमारा तात्पर्य क्या है? अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति अधि+आत्म से है, अर्थात् वह आत्मा की श्रेष्ठता या उच्चता का सूचक है। आचारांग में इसके लिए अज्झप्प या अज्झत्थ शब्द का प्रयोग है, जो आंतरिक पवित्रता या आंतरिक विशुद्धि का सूचक है। जैन धर्म के अनुसार आध्यात्मवाद वह दृष्टि है, जो यह मानती है कि भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही अंतिम लक्ष्य नहीं है। दैहिक एवं आर्थिक मूल्यों के परे उच्च मूल्य भी हैं और इन उच्च मूल्यों की उपलब्धि ही जीवन का अंतिम लक्ष्य है। जैन विचारकों की दृष्टि में अध्यात्मवाद का अर्थ है, पदार्थ को परममूल्य न मानकर आत्मा को परम मूल्य मानना। भौतिकवादी दृष्टि मानवीय दुःख और सुख का आधार वस्तु को मानकर चलती है, उसके अनुसार सुख और दुःख वस्तुगत तथ्य है। भौतिकवादी सुखों की लालसा में वस्तुओं के पीछे दौड़ता है और उनकी उपलब्धि हेतु चोरी, शोषण एवं संग्रह जैसी सामाजिक बुराइयोंको जन्म देता है। इसके विपरीत जैन अध्यात्मवाद हमें यह सिखाता है कि सुख और दुःख का केंद्र वस्तु में न होकर आत्मा में है। जैन दर्शन के अनुसार सुख-दुःख आत्मकृत हैं। अतः वास्तविक आनंद की उपलब्धि पदार्थों से न होकर आत्मा से होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्टरूप से कहा गया है कि आत्मा ही अपने सुख-दुःखों का कर्ता और भोक्ता है। वही अपना मित्र है और वही अपना शत्रु है। सुप्रतिष्ठित अर्थात् सद्गुणों में स्थित आत्मा मित्र है और दुष्प्रतिष्ठित अर्थात् दुर्गुणों में स्थित आत्मा शत्रु है। आतुरप्रकरण नामक जैन ग्रंथ में अध्यात्म का हार्द स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ज्ञान और दर्शन से युक्त शाश्वत आत्मतत्त्व ही मेरा है, शेष सभी बाह्य पदार्थ संयोग से उपलब्ध हुए हैं। इसलिए वे मेरे अपने नहीं हैं। इन संयोगजन्य उपलब्धियों को अपना मान लेने या उन पर ममत्व रखने के कारण ही जीव दुःख परम्परा को प्राप्त होता है, अतः उन सांयोगिक पदार्थों के प्रति ममत्व भाव का सर्वथा विसर्जन कर देना चाहिए। संक्षेप में जैन अध्यात्मवाद के अनुसार देह आदि सभी आत्मेत्तर पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग ही साधना का मूल उत्स है। वस्तुतः जहां अध्यात्मवाद पदार्थ के स्थान पर आत्मा को अपना साध्य मानता है, वहां भौतिकवाद

में पदार्थ ही परम मूल्य बन जाता है। अध्यात्मवाद में आत्मा का ही परम मूल्य होता है। जैन अध्यात्मवाद आत्मोपलब्धि के लिए पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग आवश्यक मानता है। उसके अनुसार ममता के विसर्जन से ही समता (Equanimity) का सर्जन होता है।

अध्यात्मवाद का लक्ष्य आत्मोपलब्धि

जैनधर्म में ममत्व के विसर्जन को ही आत्मोपलब्धि का एकमात्र उपाय इसलिए माना गया है कि जब तक व्यक्ति में ममत्व बुद्धि या आसक्ति भाव रहता है तब तक व्यक्ति की दृष्टि 'स्व' में नहीं, अपितु 'पर' अर्थात् पदार्थ में केंद्रित रहती है। वह पर में स्थित होता है। यह पदार्थ केंद्रित दृष्टि ही या पर में स्थित होना ही भौतिकवाद का मूल आधार है। जैन दार्शनिकों के अनुसार 'पर' अर्थात् आत्मेत्तर वस्तुओं में अपनत्व का भाव और पदार्थ को परम मूल्य मानना यही भौतिकवाद या मिथ्या दृष्टि का लक्षण है। आत्मवादी या अध्यात्मवादी व्यक्ति की दृष्टि पदार्थ-केंद्रित न होकर आत्म-केंद्रित होती है। वह आत्मा को ही परम मूल्य मानता है और अपने स्वरूप या स्वभावदशा की उपलब्धि को ही अपनी साधना का लक्ष्य बनाता है, इसे ही जैन पारिभाषिक शब्दावली में सम्यक् दृष्टि कहा गया है। भौतिकवाद मिथ्या दृष्टि है और अध्यात्मवाद सम्यक् दृष्टि है।

आत्मा का स्वरूप एवं साध्य

यहां स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठ सकता है, कि जैनधर्म में आत्मा का स्वरूप क्या है? आचारांगसूत्र में आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो आत्मा है, वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है। इस प्रकार ज्ञाताभाव में स्थित होना ही स्वस्वभाव में स्थित होना है। आधुनिक मनोविज्ञान में चेतना के तीन पक्ष माने गए हैं- ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक, उसमें भावात्मक और संकल्पात्मक पक्ष वस्तुतः भोक्ताभाव और कर्ताभाव के सूचक हैं। जब तक आत्म कर्ता (doer) या भोक्ता (enjoyer) होता है, तब तक यह स्वस्वरूप को उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि यहां चित्त-विकल्प या आकांक्षा बनी रहती है। अतः उसके द्वारा चित्त समाधि या आत्मोपलब्धि सम्भव नहीं है। विशुद्ध ज्ञाताभाव या साक्षी भाव ही ऐसा तथ्य है जो आत्मा को निराकुल समाधि की अवस्था में स्थिर कर दुःखों से मुक्त कर सकता है।

एक अन्य दृष्टि से जैनधर्म में आत्मा का स्वरूप-लक्षण समत्व

(equanimity) भी बताया गया है। भगवतीसूत्र में गौतम ने महावीर के सम्मुख दो प्रश्न उपस्थित किए। आत्मा-क्या है और उसका साध्य क्या है? महावीर ने इन प्रश्नों के जो उत्तर दिए थे, वे जैनधर्म के हार्द को स्पष्ट कर देते हैं। उन्होंने कहा था कि आत्मा समत्व स्वरूप है और समत्व की उपलब्धि कर लेना यही आत्मा का साध्य है। आचारांगसूत्र में भी समता को धर्म कहा गया है। वहां समता को धर्म इसलिए कहा गया है कि वह हमारा स्व स्वभाव है और वस्तु स्वभाव ही धर्म है (वत्थु सहावो धम्मो)। जैन दार्शनिकों के अनुसार स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। जो हमारा मूल स्वभाव और स्वलक्षण है, वही हमारा साध्य हो सकता है। जैन परिभाषा में नित्य और निरपवाद वस्तु धर्म ही स्वभाव है। आत्मा का स्वस्वरूप और आत्मा का साध्य दोनों ही समता है। यह बात जीव वैज्ञानिक दृष्टि से भी सत्य सिद्ध होती है। आधुनिक जीव विज्ञान में भी समत्व के संस्थापन को जीवन का लक्षण बताया गया है। यद्यपि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद 'समत्व' के स्थान पर 'संघर्ष' को जीवन का स्वभाव बताता है और कहता है कि 'संघर्ष' ही जीवन का नियम है, मानवीय इतिहास वर्ग संघर्ष की कहानी है।' किंतु यह एक मिथ्या धारणा है। संघर्ष सदैव निराकरण का विषय रहा है। कोई भी चेतन सत्ता संघर्षशील दशा में नहीं रहना चाहती, वह संघर्ष का निराकरण करना ही चाहती है। यदि संघर्ष निराकरण की वस्तु है तो उसे स्वभाव नहीं कहा जा सकता है। संघर्ष मानव इतिहास का एक तथ्य हो सकता है, किंतु वह मनुष्य के विभाव का इतिहास है, स्वभाव का नहीं। चैतसिक जीवन में तनाव या विचलन पाए जाते हैं, किंतु वे जीवन के स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि जीवन की प्रक्रिया सदैव ही उन्हें समाप्त करने की दिशा में प्रयासशील है। चैतसिक जीवन का मूल स्वभाव यही है कि वह बाह्य और आंतरिक उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से उत्पन्न विक्षोभों को समाप्त कर, समत्व को बनाए रखने का प्रयास करता है। अतः जैनधर्म में समता को आत्मा या चेतना का स्वभाव कहा गया है और उसे ही धर्म के रूप में परिभाषित किया गया है। यह सत्य है कि जैनधर्म में धर्मसाधना का मूलभूत लक्ष्य कामना, आसक्ति, राग-द्वेष और वितर्क आदि मानसिक असंतुलनों और तनावों को समाप्त कर अनासक्त और निराकुल वीतराग चेतना की उपलब्धि माना गया है। आसक्ति या ममत्व बुद्धि राग और द्वेष के भाव उत्पन्न कर व्यक्ति को पदार्थापक्षी बनाती है। आसक्त व्यक्ति अपने को 'पर' में खोजता है, जबकि अनासक्त या वीतराग दृष्टि व्यक्ति को स्व में केंद्रित करती है। दूसरे शब्दों में, जैनधर्म में वीतरागता की उपलब्धि को ही जीवन का परम लक्ष्य घोषित किया गया है। क्योंकि वीतराग ही सच्चे अर्थ में समभाव में अथवा साक्षी भाव में स्थिर रह सकता

है जो चेतना समभाव या साक्षी भाव में स्थित रह सकती है, वही निराकुल दशा को प्राप्त होती है और जो निराकुल दशा को प्राप्त होती है, वही शाश्वत सुखों का आस्वाद करती है। जैनधर्म में आत्मोपलब्धि या स्वरूप-उपलब्धि को, जो जीवन का लक्ष्य माना गया है, वह वस्तुतः वीतराग दशा में ही सम्भव है और इसलिए प्रकारांतर से वीतरागता को भी जीवन का लक्ष्य कहा गया है। वीतरागता का ही दूसरा नाम समभाव या साक्षीभाव है। यही समभाव हमारा वास्तविक स्वरूप है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेना ही हमारे जीवन का परम साध्य है।

साध्य और साधना मार्ग का आत्मा से अभेद

जैनधर्म में साधक, साध्य और साधना मार्ग तीनों ही आत्मा से अभिन्न माने गए हैं। आत्मा ही साधक है, आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधना का मार्ग है। अध्यात्मतत्त्वालोक में कहा गया है कि आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष है, जब तक आत्मा कषाय और इंद्रियों के वशीभूत है, वह संसार है। किंतु जब वह इन्हें अपने वशीभूत कर लेता है तो मुक्त कहा जाता है। आचार्य अमृतचंद्रसूरि समयसार टीका में लिखते हैं कि द्रव्य का परिहार और शुद्ध आत्म तत्त्व की उपलब्धि ही सिद्धि है। आचार्य हेमचंद्र ने भी साध्य और साधक में भेद बताते हुए योगशास्त्र में कहा है कि कषाय और इंद्रियों से पराजित आत्मा बद्ध और उनको विजित करने वाला आत्मा ही प्रबुद्ध पुरुषों द्वारा मुक्त कहा जाता है। वस्तुतः आत्मा की वासनाओं से युक्त अवस्था ही बंधन है और वासनाओं तथा विकल्पों से रहित शुद्ध आत्मदशा ही मोक्ष है। जैन अध्यात्मवाद का कथन है कि साधक का आदर्श उसके बाहर नहीं वरन् उसके अंदर है। धर्म साधना के द्वारा जो कुछ पाया जाता है वह बाह्य उपलब्धि नहीं, अपितु निज गुणों का पूर्ण प्रकटन है। हमारी मूलभूत क्षमताएं साधक अवस्था और सिद्ध अवस्था में समान ही हैं। साधक और सिद्ध अवस्थाओं में अंदर क्षमताओं का नहीं, वरन् क्षमताओं का योग्यताओं में बदल देने का है। जिस प्रकार बीज वृक्ष के रूप में विकसित होने की क्षमता रखता है और वह वृक्ष रूप में विकसित होकर वह अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। वैसे ही आत्मा भी परमात्म दशा प्राप्त करने की क्षमता रखता है और उसे उपलब्ध कर पूर्ण हो जाता है। जैनधर्म के अनुसार अपनी ही बीजरूप क्षमताओं को पूर्ण रूप से प्रकट करना ही मुक्ति है। जैन साधना 'स्व' के द्वारा 'स्व' को उपलब्ध करना है, निज में प्रसुप्त जिनत्व को अभिव्यक्त करना है। आत्मा को ही परमात्मा के रूप में पूर्ण बनाना है। इस प्रकार

आत्मा का साध्य आत्मा ही है।

जैनधर्म का साधना मार्ग भी आत्मा से भिन्न नहीं है। हमारी ही चेतना के ज्ञान, भाव और संकल्प के पक्ष सम्यक् दिशा में नियोजित होकर साधनामार्ग बन जाते हैं। जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को, जो मोक्ष मार्ग कहा गया है, उसका मूल हार्द इतना ही है कि चेतना के ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक पक्ष क्रमशः सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र के रूप में साधना मार्ग बन जाते हैं।

इस प्रकार साधना मार्ग भी आत्मा ही है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि मोक्षकामी को आत्मा को जानना चाहिए, आत्मा पर ही श्रद्धा करना चाहिए और आत्मा को ही अनुभूति (अनुचरितव्यश्च) करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, प्रत्याख्यान (त्याग), संवर (संयम) और योग में है। जिन्हें व्यवहारनय से ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहा गया है कि वे निश्चयनय से तो आत्मा ही हैं।

त्रिविधि साधनामार्ग और आत्मा

सम्भवतः यह प्रश्न हो सकता है कि जैनधर्म में त्रिविध साधना मार्ग का ही विधान क्यों किया गया है? वस्तुतः त्रिविध साधना मार्ग के विधान में जैनाचार्यों की एक गहन मनोवैज्ञानिक सूझ रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पहलू माने गए हैं- १. ज्ञान, २. भाव और ३. संकल्पा चेतना के इन तीनों पक्षों के सम्यक् विकास के लिए ही त्रिविध साधना मार्ग का विधान किया गया है। चेतना के भावात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिए सम्यक् दर्शन, ज्ञानात्मक पक्ष के सही दिशा में नियोजन के लिए ज्ञान और संकल्पात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिए सम्यक् चारित्र का प्रावधान किया गया है।

पाश्चात्य परम्परा में भी तीन आदेश उपलब्ध होते हैं- १. स्वयं को जानो (Know Thyself), २. स्वयं को स्वीकार करो (Accept Thyself) और स्वयं ही बन जाओ (Be Thyself)। पाश्चात्य चिंतन के ये तीन आदेश ज्ञान, दर्शन और चारित्र के ही समकक्ष हैं। आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्त्व, आत्मस्वीकृति में श्रद्धा का तत्त्व और आत्मनिर्माण में चारित्र का तत्त्व उपस्थित है।

जैन-दर्शन में सम्यग्दर्शन आत्मश्रद्धान है, सम्यग्ज्ञान आत्म-अनात्म का विवेक है। जैनों की पारिभाषिक शब्दावली में इसे भेद विज्ञान कहा जाता है। आचार्य अमृतचंद्र

सूरि के अनुसार जो कोई सिद्ध हैं वे इस आत्म-अनात्म के विवेक या भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो बंधन में हैं, वे इसके अभाव कारण ही हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में इस भेद विज्ञान का अत्यंत गहन विवेचन किया है, किंतु विस्तारपूर्वक यह समग्र विवेचना यहां सम्भव नहीं है। जैन परम्परा में साधना का तीसरा चरण सम्यक् चारित्र है। इसके दो रूप माने गए हैं - १. व्यवहार चारित्र और २. निश्चय चारित्र। आचरण का बाह्य पक्ष या आचरण के विधि-विधान व्यवहार चारित्र कहे जाते हैं, जबकि आचरण की अन्तरात्मा निश्चय चारित्र कही जाती है।

निश्चय दृष्टि (Real view point) से चारित्र का सच्चा अर्थ समभाव या समत्व की उपलब्धि है। मानसिक चैतिसिक जीवन में समत्व की उपलब्धि- यही चारित्र का पारमार्थिक या नैश्चयिक पक्ष है। वस्तुतः चारित्र का यह पक्ष आत्म-रमण की स्थिति है। नैश्चयिक चारित्र का प्रादुर्भाव केवल प्रमत्त अवस्था में ही होता है। अप्रमत्त चेतना की अवस्था में होने वाली सभी कार्य शुद्ध ही माने गए हैं। चेतना में जब राग, द्वेष कषाय और वासनाओं की अग्नि पूरी तरह शांत हो जाती है तभी सच्चे आध्यात्मिक एवं धार्मिक जीवन का उद्भव होता है। साधना जब जीवन की प्रत्येक क्रिया के सम्पादन में आत्म जागृत होता है, उसका आचरण बाह्य आवेगों और वासनाओं से चलित नहीं होता है तभी वह सच्चे अर्थों में नैश्चयिक चारित्र का पालनकर्ता माना जाता है। यही नैश्चयिक चारित्र जैन अध्यात्म की आधारशिला है और मुक्ति का अंतिमकारक है।

जैन पर्वों की आध्यात्मिक प्रकृति

न केवल जैन साधना-पद्धति की प्रकृति ही अध्यात्मवादी है, अपितु जैन पर्व भी मूलतः अध्यात्मवादी ही है। जैन पर्व आमोद-प्रमोद के लिए न होकर आत्मसाधना और तप साधना के लिए होते हैं। उनमें मुख्यतः तप, त्याग, व्रत एवं उपवासों की प्रधानता होती है। जैनों के प्रसिद्ध पर्वों में श्वेताम्बर परम्परा में पर्युषण पर्व और दिगम्बर परम्परा में दशलक्षण पर्व है जो भाद्रपद में मनाए जाते हैं। इन दिनों में जिन प्रतिमाओं की पूजा, उपवास आदि व्रत तथा धर्म ग्रंथों का स्वाध्याय यही साधकों की दिनचर्या के प्रमुख अंग होते हैं। इन पर्वों के दिनों में जहां दिगम्बर परम्परा में प्रतिदिन क्षमा, विनम्रता, सरलता, पवित्रता, सत्य, संयम, ब्रह्मचर्य आदि दस धर्मों (सद्गुणों) की विशिष्ट साधना की जाती है, वहां श्वेताम्बर परम्परा में इन दिनों में प्रतिक्रमण के रूप में आत्म पर्यावलोकन किया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा का अंतिम दिन संवत्सरी पर्व के नाम से मन्मथा जाता है और

इस दिन समय वर्ष के चारित्रिक स्वलन या असदाचरण और वैर-विरोध के लिए आत्म पर्यावलोकन (प्रतिक्रमण) किया जाता है एवं प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है। इस दिन शत्रु-मित्र आदि सभी से क्षमा-याचना की जाती है। इस दिन जैन साधक का मुख्य उद्घोष होता है- मैं सभी जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ और सभी जीव मुझे क्षमा प्रदान करें। मेरी सभी प्राणीवर्ग से मित्रता है और किसी से कोई बैर-विरोध नहीं है। इन पर्व के दिनों में अहिंसा का पालन करना और करवाना भी एक प्रमुख कार्य होता है। प्राचीनकाल में अनेक जैनाचार्यों ने अपने प्रभाव से शासकों द्वारा इन दिनों को अहिंसक दिनों के रूप में घोषित करवाया था। इस प्रकार पर्व के अतिरिक्त अष्टाहिन पर्व, श्रुत पंचमी तथा विभिन्न तीर्थकरों के गर्भ प्रवेश, जन्म, दीक्षा, कैवल्य प्राप्ति एवं निर्वाण दिवसों को भी पर्व के रूप में मनाया जाता है। इन दिनों में भी सामान्यतया व्रत रखा जाता है और जिन प्रतिमाओं की विशेष समारोह के साथ पूजा की जाती है। दीपावली का पर्व भी भगवान् महावीर के निर्वाण दिवस के रूप में जैन समुदाय के द्वारा बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है।

जैन अध्यात्मवाद और लोक कल्याण का प्रश्न

यह सत्य है कि जैनधर्म संन्यासमार्गी धर्म है। उसकी साधना में आत्मशुद्धि और आत्मोपलब्धि पर अधिक जोर दिया गया है, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि जैनधर्म में लोक मंगल या लोक कल्याण का कोई स्थान नहीं है। जैनधर्म यह तो अवश्य मानता है कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन अधिक उपयुक्त है, किंतु इसके साथ-ही-साथ वह यह भी मानता है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में होना चाहिए। महावीर का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि १२ वर्षों तक एकाकी साधना करने के पश्चात् वे पुनः सामाजिक जीवन में लौट आए। उन्होंने चतुर्विध संघ की स्थापना की तथा जीवनभर उसका मार्गदर्शन करते रहे। जैनधर्म सामाजिक कल्याण और सामाजिक सेवा को आवश्यक तो मानता है, किंतु वह व्यक्ति के सुधार से समाज के सुधार की दिशा में आगे बढ़ता है। व्यक्ति समाज की प्रथम इकाई है, जब तक व्यक्ति नहीं सुधरेगा तब तक समाज नहीं सुधर सकता है। जब तक व्यक्ति के जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं होता, तब तक सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था और शांति की स्थापना नहीं हो सकती। जो व्यक्ति अपने स्वार्थों और वासनाओं पर नियंत्रण नहीं कर सकता, वह कभी सामाजिक हो ही नहीं सकता। लोकसेवक और

जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और द्वन्द्वों से दूर रहें- यह जैन आचार-संहिता का आधारभूत सिद्धांत है। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिए घातक ही सिद्ध होंगे। व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त जो संगठन या समुदाय बनते हैं, वे सामाजिक जीवन के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं। क्या चोर, डाकू और शोषकों का समाज, समाज कहलाने का अधिकारी है? महावीर की शिक्षा का सार यही है कि वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति ही सामाजिक कल्याण के क्षेत्र प्रवृत्ति का आधार बन सकती है। प्रश्न-व्याकरणसूत्र में कहा गया है कि भगवान् का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं कर्णुणा के लिए है। जैन साधना में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- ये जो पांच व्रत माने गए हैं, वे केवल वैयक्तिक साधना के लिए नहीं हैं, वे सामाजिक मंगल के लिए भी हैं। वे आत्म शुद्धि के साथ ही हमारे सामाजिक सम्बंधों की शुद्धि का प्रयास भी हैं। जैन दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित को सदैव ही महत्त्व दिया है। जैनधर्म में तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवली के जो पदार्थ स्थापित किए गए हैं और उनमें जो तारतम्यता निश्चय की गई है, उसका आधार विश्व कल्याण, वर्ण कल्याण और व्यक्ति कल्याण की भावना ही है। इस त्रिपुटी में विश्व कल्याण के लिए प्रवृत्ति करने के कारण ही तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। स्थानांगसूत्र (स्थान १०) में ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि की उपस्थिति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जैन साधना केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक ही सीमित नहीं है, वरन् उसमें लोकहित या लोक कल्याण की प्रवृत्ति भी पाई जाती है।

जैनधर्म का अध्यात्मवाद जीवन का निषेध सिखाता है?

जैनधर्म में तप-त्याग की जो महिमा गाई गई है, उसके आधार पर यह भ्रांति फैलाई जाती है कि जैनधर्म जीवन का निषेध सिखाता है। अतः यहां इस भ्रांति का निराकरण कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जैनधर्म के तप-त्याग का अर्थ शारीरिक एवं भौतिक जीवन की अस्वीकृति नहीं है। आध्यात्मिक मूल्यों की स्वीकृति का यह तात्पर्य नहीं है कि शारीरिक एवं भौतिक मूल्यों की पूर्णतया उपेक्षा की जाए। जैनधर्म के अनुसार शारीरिक मूल्य अध्यात्म के बाधक नहीं, साधक हैं। निशीथभाष्य (४७/९१) में कहा गया है कि मोक्ष का साधन ज्ञान है, ज्ञान का साधन शरीर है, शरीर का आधार आहार है। शरीर शाश्वत् आनंद के कूल पर ले जाने वाली नौका है। इस दृष्टि से उसका मूल्य भी है; महत्त्व भी है और उसकी सार-सम्भाल भी करना है, किंतु ध्यान रहे, दृष्टि नौका पर नहीं कूल पर

होना है, नौका साधन है, साध्य नहीं। भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं की एक साधन के रूप में स्वीकृति जैनधर्म और सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या का हार्द है। यह वह विभाजन रेखा है, जो अध्यात्म और भौतिकवाद में अंतर करती है। भौतिकवाद में उपलब्धियां या जैविक मूल्य स्वयमेव साध्य हैं, अंतिम हैं, जबकि अध्यात्म में वे किन्हीं उच्च मूल्यों का साधन हैं। जैनधर्म की भाषा में कहें तो साधक के द्वारा वस्तुओं का त्याग और ग्रहण दोनों ही साधना के लिए है। जैनधर्म की सम्पूर्ण साधना का मूल लक्ष्य तो एक ऐसे निराकुल, निर्विकार, निष्काम और वीतराग मानस की अभिव्यक्ति है, जो कि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के समस्त तनावों एवं संघर्षों को समाप्त कर सके। उसके सामने मूल प्रश्न दैहिक एवं भौतिक मूल्यों की स्वीकृति का नहीं है, अपितु वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में शांति की स्थापना है। अतः जहां तक और जिस रूप में दैहिक और भौतिक उपलब्धियां उसमें बाधक हैं, वहीं तक त्याज्य हैं। भगवान् महावीर ने आचारांग एवं उत्तराध्ययनसूत्र (३२/१०१) में इस बात को बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि जब इंद्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होता है, तब उस सम्पर्क के परिणामस्वरूप सुखद-दुःखद अनुभूति भी होती है और जीवन में यह शक्य नहीं है कि इंद्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो और उसके कारण सुखद या दुःखद अनुभूति न हो, अतः त्याग इंद्रियानुभूति-का नहीं, अपितु उसके प्रति चित्त में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष करना है, क्योंकि इंद्रियों के मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषय का आसक्तचित्त या वीतराग के लिए नहीं (उत्तरा.१२/४४)। अतः जैनधर्म की मूल शिक्षा ममत्व के विसर्जन की है, जीवन के निषेध की नहीं।

जैन अध्यात्मवाद की विशेषताएं

(अ) ईश्वरवाद से मुक्ति- जैन अध्यात्मवाद ने मनुष्य को ईश्वरीय दासता से मुक्त कर मानवीय स्वतंत्रता की प्रतिष्ठा की है। उसने यह उद्घोष किया कि न तो ईश्वर और न तो कोई अन्य शक्ति ही मानव की निर्धारक है। मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है। जैनधर्म ने किसी विश्वनियन्ता ईश्वर को स्वीकार करने के स्थान पर मनुष्य में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की और यह बताया कि व्यक्ति ही अपनी साधना के द्वारा परमात्म दशा को प्राप्त कर सकता है। उसने कहा 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। मनुष्य को किसी का कृपाकांक्षी न बनकर स्वयं ही पुरुषार्थ करके परमात्म-पद को प्राप्त करना है।

(ब) मानव मात्र की समानता का उद्घोष - जैनधर्म के अध्यात्मवाद की

दूसरी विशेषता यह है कि उसने वर्णवाद, जातिवाद आदि उन सभी अवधारणाओं की जो मनुष्य में ऊँच-नीच का भेद उत्पन्न करती थी, अस्वीकार किया। उसके अनुसार सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्यों में श्रेष्ठता और कनिष्ठता का आधार न तो जाति विशेष या कुल विशेष में जन्म लेना है और न सत्ता और सम्पत्ति ही। वह वर्ण, रंग, जाति, सम्पत्ति और सत्ता के स्थान पर आचरण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है। उत्तराध्ययनसूत्र के १२वें एवं २५वें अध्याय में वर्ण व्यवस्था और ब्राह्मण की श्रेष्ठता की अवधारणा पर करारी चोट करते हुए यह कहा गया है कि जो सर्वथा अनासक्त, मेघावी और सदाचारी हैं, वही सच्चा ब्राह्मण है और वही श्रेष्ठ है। न कि किसी कुल विशेष में जन्म लेने वाला व्यक्ति।

(स) यज्ञ आदि बाह्य क्रिया-काण्डों का आध्यात्मिक अर्थ- जैन अध्यात्म ने यज्ञ, तीर्थ-स्थान आदि धर्म के नाम पर किए जाने वाले कर्मकाण्डों की न केवल आलोचना की, अपितु उन्हें एक आध्यात्मिक अर्थ भी प्रदान किया। उत्तराध्ययनसूत्र में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का सविस्तार विवेचन है। उसमें कहा गया है कि जीवात्मा अग्निकुण्ड है, मन, वचन, काया की प्रवृत्तियाँ ही कलछी (ज्रम्मच) है और कर्मों (पापों) का नष्ट करना ही आहुति है, यही यज्ञ शांतिदायक है और ऋषियों ने ऐसे ही यज्ञ की प्रशंसा की है। तीर्थ-स्थान को भी आध्यात्मिक अर्थ प्रदान करते हुए उत्तराध्ययन (२/४६) में कहा गया है- धर्म जलाशय है, ब्रह्मचर्य घाट (तीर्थ) है, उसमें स्नान करने से ही आत्मा निर्मल और शुद्ध हो जाती है।

(द) दान, दक्षिणा आदि के स्थान पर संयम की श्रेष्ठता- यद्यपि धर्म के चार अंगों में दान को स्थान दिया गया है, किंतु जैन आध्यात्मिक दृष्टि यह मानती है कि दान की अपेक्षा संयम का पालन ही अधिक श्रेष्ठ है। उत्तराध्ययन (९/४०) में कहा गया है कि प्रतिमास सहस्रों गायों का दान करने की अपेक्षा संयम का पालन अधिक श्रेष्ठ है।

अध्यात्म और विज्ञान : वर्तमान संदर्भ

औपनिषदिक ऋषिगण, बुद्ध और महावीर भारतीय अध्यात्म परम्परा के उन्नायक रहे हैं। उनके आध्यात्मिक चिंतन ने भारतीय मानस को आत्मतोष प्रदान किया है, किंतु आज हम विज्ञान के युग में जीवन जी रहे हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियाँ भी आज हमें उद्वेलित कर रही हैं। आज का मनुष्य दो तलों पर जीवन जी रहा है। यदि विज्ञान को नकारता है तो जीवन की सुख-सुविधा और समृद्धि के खोने का खतरा है। दूसरी ओर अध्यात्म को नकारने पर आत्म-शांति से वंचित होता है। आज आवश्यकता है कि ऋषि-महर्षियों

द्वारा प्रतिस्थापित आध्यात्मिक मूल्यों और आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों के समन्वय की। निश्चय ही 'विज्ञान और अध्यात्म' की चर्चा आज प्रासंगिक है।

सामान्यतया आज विज्ञान और अध्यात्म को परस्पर विरोधी अवधारणाओं के रूप में देखा जाता है। जहां अध्यात्म को धर्मवाद और पारलौकिकता के साथ जोड़ा जाता है, वहीं विज्ञान को भौतिकता और इहलौकिकता के साथ जोड़ा जाता है। आज दोनों में विरोध माना जाता है, लेकिन यह अवधारणा ही भ्रान्त है। प्राचीन युग में तो विज्ञान और अध्यात्म ये शब्द भी परस्पर भिन्न अर्थ के बोधक नहीं थे। महावीर ने आचारांगसूत्र में कहा है कि जो आत्मा है वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है। यहां आत्मज्ञान और विज्ञान दोनों एक ही हैं। वस्तुतः विज्ञान शब्द वि+ज्ञान से बना है। 'वि' उपसर्ग विशिष्टता का द्योतक है अर्थात् विशिष्ट ज्ञान ही विज्ञान है। आज जो विज्ञान शब्द केवल पदार्थ-ज्ञान के रूप में रूढ़ हो गया है, वह मूलतः विशिष्ट ज्ञान या आत्मज्ञान ही था। आत्मज्ञान ही विज्ञान है। पुनः अध्यात्म शब्द भी अधि-आत्म से बना है। 'अधि' उपसर्ग भी विशिष्टता का ही सूचक है, जो आत्मा की विशिष्टता है, वही अध्यात्म है। चूंकि आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है, अतः ज्ञान की विशिष्टता ही अध्यात्म है और वही विज्ञान है। फिर भी आज विज्ञान पदार्थ-ज्ञान के अर्थ में और अध्यात्म आत्मज्ञान के अर्थ में रूढ़ हो गया है। मेरी दृष्टि में विज्ञान साधकों का ज्ञान है तो अध्यात्म साध्य का ज्ञान। प्रस्तुत निबंध में इन्हीं रूढ़ अर्थों में विज्ञान और अध्यात्म शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। एक हमें बाह्य-जगत् में जोड़ता है, तो दूसरा हमें आत्म-जगत् से। दोनों ही 'योग' हैं। एक साधन-योग है तो दूसरा साध्य-योग। एक हमें जीवन-शैली (Life style) देता है, तो दूसरा हमें जीवन-साध्य (Goal of life) देता है। आज हमारा दुर्भाग्य यही है कि जो एक-दूसरे के पूरक हैं उन्हें हमने एक-दूसरे का विरोधी मान लिया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि इनकी परस्पर पूरक शक्ति या अभिन्नता को समझा जाए।

आज हम विज्ञान को पदार्थ विज्ञान मानते हैं। यद्यपि आज हमने 'पर' या 'अनात्म' के संदर्भ में इतना अधिक ज्ञान अर्जित कर लिया है कि 'स्व' या 'आत्म' को विस्मृत कर बैठे हैं। हमने परमाणु के आवरण को तोड़कर उसके जर्रे-जर्रे को जानने का प्रयास किया, किंतु दुर्भाग्य यही है कि अपनी आत्मा के आचरण को भेदकर अपने आपको नहीं जान सके। हम परिधि को व्यापकता देने में केंद्र को ही भुला बैठे। मनुष्य की यह परकेन्द्रितता ही उसे अपने आपसे बहुत दूर ले गई है। यही आज के जीवन की त्रासदी है। वह दुनिया को

समझता है, जानता है, परखता है, किंतु अपने प्रति तन्द्राग्रस्त है। उसे स्वयं यह बोध नहीं है कि मैं कौन हूँ? मेरा कर्तव्य क्या है? लक्ष्य क्या है? वह भटक रहा है, मात्र भटक रहा है। आज से २५०० वर्ष पूर्व महावीर ने मनुष्य की उस पीड़ा को समझा था। उन्होंने कहा था कि कितने ही लोग ऐसे हैं, जो नहीं जानते कि मैं कौन हूँ? कहां से आया हूँ? मेरा गन्तव्य क्या है? यह केवल महावीर ने कहा हो ऐसी बात नहीं है। बुद्ध ने भी कहा था- 'अदानं गवेस्सेथ' अपने को खोजो। औपनिषदिक ऋषियों ने कहा - 'आत्मानं विद्धि', अपने आपको जानो यही जीवन परिशोध का मूलमंत्र है। आज हमें पुनः इन्हीं प्रश्नों के उत्तर को खोजना है। आज का विज्ञान आपको पदार्थ जगत् के संदर्भ में सूक्ष्मतम सूचनाएं दे सकता है, किंतु वे सूचनाएं हमारे लिए ठीक उसी तरह अर्थहीन हैं, जिस प्रकार जब तक आंख न खुली हों, प्रकाश का कोई मूल्य नहीं। विज्ञान प्रकाश है, किंतु अध्यात्म की आंख के बिना उसकी कोई सार्थकता नहीं है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा था- अंधे व्यक्ति के सामने करोड़ों दीपक जलाने से क्या लाभ? जिसकी आंख खुली हो उसके लिए एक ही दीपक पर्याप्त है। आज के मनुष्य की भी यही स्थिति है। वह विज्ञान और तकनीक के सहारे बाह्य-जगत् में चकाचौंध विद्युत फैला रहा है, किंतु अपने अन्तर्चक्षु का उन्मीलन नहीं कर पा रहा है। प्रकाश की चकाचौंध में हम अपने को ही नहीं देख पा रहे हैं। यह सत्य है कि प्रकाश आवश्यक है, किंतु आंखें खोले बिना उसका कोई मूल्य नहीं है। विज्ञान ने मनुष्य को शक्ति दी है आज वह ध्वनि से भी अधिक तीव्र गति से यात्रा कर सकता है, किंतु स्मरण रहे विज्ञान जीवन के लक्ष्य का निर्धारण नहीं कर सकता। लक्ष्य का निर्धारण तो अध्यात्म ही कर सकता है। विज्ञान साधन देता है, लेकिन उनका उपयोग किस दिशा में करना होगा, यह बतलाना अध्यात्म का कार्य है। पूज्य विनोबा जी के शब्दों में- 'विज्ञान' में दोहरी शक्ति होती है, एक विनाश-शक्ति और दूसरी विकास-शक्ति। वह सेवा भी कर सकता है और संहार भी। अग्नि नारायण की खोज हुई तो उससे रसोई भी बनाई जा सकती है और उससे आग भी लगाई जा सकती है। अग्नि का प्रयोग घर फूंकने में करना या चूल्हा जलाने में यह अक्ल विज्ञान में नहीं है। अक्ल तो आत्मज्ञान में है। आगे वे कहते हैं- आत्मज्ञान है- आंख और विज्ञान है- पांवा। अगर मानव को आत्मज्ञान नहीं है तो वह अंधा है। कहां चला जाएगा कुछ पता नहीं। दूसरे शब्दों में कहें तो अध्यात्म देखता तो है, लेकिन चल नहीं सकता। उसमें लक्ष्य बोध तो है, किंतु गति की शक्ति नहीं। विज्ञान में शक्ति तो है किंतु गति की शक्ति नहीं। विज्ञान में शक्ति तो है किंतु आंख नहीं है, लक्ष्य का बोध नहीं है। जिस प्रकार अंधे और लंगड़े दोनों ही परस्पर सहयोग के अभाव में दावानल में जल

मरते हैं, ठीक इसी प्रकार यदि आज विज्ञान और अध्यात्म परस्पर एक-दूसरे के पूरक नहीं होंगे तो मानवता अपने ही द्वारा लगाई गई विस्फोटक शस्त्रों की इस आग में जल मरेगी। बिना विज्ञान के संसार में सुख नहीं आ सकता और बिना अध्यात्म के शांति नहीं आ सकती। मानव समाज की सुख (Pleasure) और शांति (Peace) के लिए दोनों का परस्पर होना आवश्यक है। वैज्ञानिक शक्तियों का उपयोग मानव-कल्याण में हो या मानव-संहार में, इस बात का निर्धारण विज्ञान से नहीं, आत्मज्ञान या अध्यात्म से करना होगा। अणु शक्ति का उपयोग मानव के संहार में हो या मानव कल्याण में, यह निर्णय करने का अधिकार उन वैज्ञानिकों को भी नहीं है, जो सत्ता, स्वार्थ और समृद्धि के पीछे अंधे राजनेताओं के दास हैं। यह निर्णय तो मानवीय विवेक सम्पन्न निःस्पृह साधकों को ही करना होगा। यह सत्य है कि विज्ञान के सहयोग से तकनीक का विकास हुआ है और उसने मानव के भौतिक दुःखों को बहुत कुछ कम कर दिया है, किंतु दूसरी ओर उसने मारक शक्ति का विकास के द्वारा भय या संत्रास की स्थिति उत्पन्न कर मानव की शांति को भी छीन लिया है। आज मनुष्य जाति भयभीत और संत्रस्त है। आज वह विस्फोटक अस्त्रों के ज्वालामुखी पर खड़ी है, जो कब विस्फोट कर हमारे अस्तित्व को निगल लेगी, यह कहना कठिन है। आज हमारे पास जिन संहारक अस्त्रों का संग्रह है, वे पृथ्वी के सम्पूर्ण जीवन को अनेक बार समाप्त कर सकते हैं।

पूज्य विनोबा जी लिखते हैं- जो विज्ञान एक ओर क्लोरोफार्म की खोज करता है जिससे करुणा का कार्य होता है, वही विज्ञान अणु अस्त्रों की खोज करता है जिससे भयंकर संहार होता है। एक बाजू सिपाही को जख्मी करता है, दूसरा बाजू उसको दुरुस्त करता है, ऐसा गोरखधंधा आज विज्ञान की मदद से चल रहा है। इस हालत में विज्ञान का सारा कार्य उसको मिलने वाले मार्गदर्शन पर आधारित है। उसे जैसा मार्गदर्शन मिलेगा, वह वैसा कार्य करेगा।

यदि विज्ञान पर सत्ता के आकांक्षियों का, राजनीतिज्ञों का और अपने स्वार्थ की रोटी सेंकने वालों का अधिकार होगा तो वह मनुष्य-जाति का संहारक ही बनेगा। किंतु इसके विपरीत यदि विज्ञान पर मानव-मंगल के द्रष्टा अनासक्त ऋषियों-महर्षियों का अधिकार होगा, तो वह मानव के विकास में सहायक होगा। आज हम विज्ञान के माध्यम से तकनीकी प्रगति की ऊंचाई तक पहुंच चुके हैं, जहां से लौटना सम्भव नहीं है। आज मनुष्य उस दोराहे पर खड़ा है, जहां पर उसे हिंसा और अहिंसा दो राहों में से किसी एक को चुनना है।

आज उसे यह समझना है कि वह विज्ञान के साथ किसको जोड़ना चाहता है, हिंसा को या अहिंसा को। आज उसके सामने दोनों विकल्प प्रस्तुत हैं। विज्ञान+अहिंसा = विकास। विज्ञान+हिंसा = विनाश। जब विज्ञान अहिंसा के साथ जुड़ेगा तो वह समृद्धि और शांति लाएगा, किंतु जब उसका गठबंधन हिंसा से होगा तो संहारक होगा और अपने ही हाथों अपना विनाश करेगा।

आज विज्ञान के सहारे मनुष्य ने इतना पाशविक बल संग्रहित कर लिया है कि वह उसका रक्षक न होकर कहीं भक्षक न बन जाए, यह उसे सोचना है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा था- 'अत्थि सत्थेन परंपरं, नत्थि असत्थेन परंपरं।' शस्त्र एक से बढ़कर एक हो सकता है, किंतु अहिंसा से बढ़कर अन्य कुछ नहीं हो सकता। आज सम्पूर्ण मानव समाज को यह निर्णय लेना होगा कि वे वैज्ञानिक शक्तियों का प्रयोग मानवता के कल्याण के लिए करना चाहते हैं या उसके संहार के लिए। आज तकनीकी प्रगति के कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच की दूरी कम हो गई है। आज विज्ञान ने मानव समाज को एक-दूसरे के निकट लाकर खड़ा कर दिया है। आज हम परस्पर इतने निर्भर बन गए हैं कि एक-दूसरे के बिना खड़े भी नहीं रह सकते, किंतु दूसरी ओर आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव के कारण हमारे हृदयों की दूरी अधिक विस्तीर्ण हो गई है। हृदय की इस दूरी को पाटने का काम विज्ञान नहीं अध्यात्म ही कर सकता है।

विज्ञान का कार्य है- विश्लेषित करना और अध्यात्म का कार्य है-संश्लेषित करना। विज्ञान तोड़ता है आध्यात्म जोड़ता है विज्ञान विनियोजित है तो आध्यात्म संयोजक। विज्ञान पर केंद्रित है तो अध्यात्म आत्म-केंद्रित। विज्ञान सिखाता है कि हमारे सुख-दुःख का केंद्र वस्तुएं हैं, पदार्थ हैं, इसके विपरीत अध्यात्म कहता है कि सुख-दुःख का केंद्र आत्मा है। विज्ञान की दृष्टि बाहर देखती है, अध्यात्म अंदर में देखता है। विज्ञान की यात्रा अंदर से बाहर की ओर है तो अध्यात्म की यात्रा बाहर से अंदर की ओर। मनुष्य को आज यह समझना है कि यदि यात्रा बाहर की ओर होती रही तो वह शांति, जिसकी उसे खोज है, कभी नहीं मिलेगी, क्योंकि बहिर्मुखी यात्री शांति की खोज वहां करता है, जहां वह नहीं है। शांति अंदर है, उसकी खोज बाहर व्यर्थ है।

इस सम्बंध में एक रूपक याद आता है। एक वृद्धा शाम के समय कुछ सी रही थी। संयोग से अंधेरा बढ़ने लगा और सूई उसके हाथ से छूटकर कहीं गिर पड़ी। महिला की झोपड़ी में प्रकाश का साधन नहीं था और प्रकाश के बिना सूई की खोज असम्भव

थी। बुद्धिया ने सोचा क्या हुआ, गर प्रकाश बाहर है तो सूर्य को वहीं खोजा जाए। वह उस प्रकाश में सूर्य खोजती रही, खोजती रही, किंतु सूर्य वहां कब मिलने वाली थी, क्योंकि वह वहां थी ही नहीं। प्रातः होने वाली थी कि कोई यात्री उधर से निकला। उसने वृद्धा से उसकी परेशानी का कारण पूछा। उसने पूछा अम्मा, सूर्य गिरी कहां थी? वृद्धा ने उत्तर दिया- बेटा, सूर्य तो झोपड़ी में गिरी थी, किंतु वहां उजाला नहीं था, अतः वहां खोजना सम्भव नहीं था। उजाला बाहर था, इसलिए मैं यहां खोज रही थी। यात्री ने उत्तर दिया- यह सम्भव नहीं है अम्मा! जो चीज जहां नहीं है, वहां खोजने पर मिल जाए। सूर्य का प्रकाश होने को है, उस प्रकाश में सूर्य वहीं खोजें जहां गिरी है। आज मानव समाज की स्थिति भी उसी वृद्धा के समान है। हम शांति की खोज वहां कर रहे हैं, जहां वह होती ही नहीं। शांति आत्मा में है, अंदर है। विज्ञान के सहारे आज शांति की खोज के प्रयत्न के उस बुद्धिया के प्रयत्नों के समान निरर्थक ही होंगे। विज्ञान, साधन दे सकता है, शक्ति दे सकता है, किंतु लक्ष्य का निर्धारण तो हमें ही करना होगा।

आज विज्ञान के कारण मानव के पूर्व स्थापित जीवन मूल्य समाप्त हो गए हैं। आज श्रद्धा का स्थान तर्क ने ले लिया है। आज मनुष्य पारलौकिक उपलब्धियों के स्थान पर इहलौकिक उपलब्धियों को चाहता है। आज के तर्क प्रधान मनुष्य को सुख और शांति के नाम पर बहलाया नहीं जा सकता, लेकिन दुर्भाग्य यह है कि आज हम अध्यात्म के अभाव में नए जीवन मूल्यों का सृजन नहीं कर पा रहे हैं। आज विज्ञान का युग है। आज उस धर्म को, जो पारलौकिक जीवन की सुख-सुविधाओं के नाम पर मानवीय भावनाओं का शोषण कर रहा है, जानना होगा। आज तथाकथित वे धर्म परम्पराएं जो मनुष्य को भविष्य के सुनहरे सपने दिखाकर फुसलाया करती थीं, अब तर्क की पैनी छेनी के आगे अपने को नहीं बचा सकतीं। अब स्वर्ग में जाने के लिए नहीं जीना है, अपितु स्वर्ग को धरती पर लाने के लिए जीना होगा। विज्ञान ने वह शक्ति दे दी है, जिससे स्वर्ग को धरती पर उतारा जा सकता है। अब यदि हम इस शक्ति का उपयोग धरती पर स्वर्ग उतारने के स्थान पर, धरती को नरक बनाने में करेंगे, तो इसकी जवाबदेही हम पर ही होगी। आज वैज्ञानिक शक्तियों का उपयोग इस दृष्टि से करना है कि वे मानव-कल्याण में सहभागी बनकर इस धरती को ही स्वर्ग बना सकें। विनोबा जी ने सत्य ही कहा है- आज विज्ञान का तो विकास हुआ, किंतु वैज्ञानिक उत्पन्न ही नहीं हुआ, क्योंकि वैज्ञानिक वह है जो निरपेक्ष होता है। आज का वैज्ञानिक राजनीतिज्ञों और पूंजीपतियों के इशारे पर चलने

वाला व्यक्ति है। वह पैसे से खरीदा जा सकता है। यह तो वैज्ञानिक की गुलामी है। ऐसे लोग अवैज्ञानिक हैं, यदि वैज्ञानिक (Scientist) वैज्ञानिक (Sceintific) नहीं बना तो विज्ञान मनुष्य के लिए ही घातक सिद्ध होगा। आज विज्ञान का उपयोग कैसे किया जाए, इसका उत्तर विज्ञान के पास नहीं अध्यात्म के पास है। विनोबा जी लिखते हैं कि आज युग की मांग से विज्ञान की जितनी ही शक्ति बढ़ेगी, आत्मज्ञान को उतनी ही शक्ति बढ़ानी होगी। आज अमेरिका इसलिए दुःखी है कि वहां विज्ञान तो है, पर अध्यात्म है नहीं, अतः सुख तो है, शांति नहीं। इसके विपरीत भारत में आध्यात्मिक विकास के कारण मानसिक शांति तो है, किंतु समृद्धि नहीं। आज जहां समृद्धि है वहां शांति नहीं और जहां शांति है वहां समृद्धि नहीं। इसका समाधान अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय में निहित है। अध्यात्म शांति देगा तो विज्ञान समृद्धि। जब समृद्धि और शांति दोनों ही एक साथ उपस्थित होंगी, मानवता अपने विकास के परम शिखर पर होगी। मानव स्वयं अतिमानव के रूप में विकसित हो जाएगा, किंतु इसके लिए प्रयत्न करना होगा। बिना अडिग आस्था और सतत् पुरुषार्थ के यह सम्भव नहीं।

आज विज्ञान ने मनुष्य को सुख-सुविधा और समृद्धि तो प्रदान कर दी है, फिर भी मनुष्य भय और तनाव की स्थिति में जी रहा है। उसे आंतरिक शांति उपलब्ध नहीं है, उसकी समाधि भंग हो चुकी है। यदि विज्ञान के माध्यम से कोई शांति आ सकती है तो वह केवल श्मशान की शांति होगी। बाहरी साधनों से न कभी आंतरिक शांति मिली है, न उसका मिलना सम्भव ही है। इस प्रसंग में उपनिषदों का एक प्रसंग याद आ रहा है- नारद जीवनभर वेद-वेदांग का अध्ययन करते रहे। उन्होंने अनेक विद्याएं (भौतिक विद्याएं) प्राप्त कर ली, किंतु उनके मन को कहीं संतोष नहीं मिला। वे सनत्कुमार के पास आए और कहने लगे मैंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। मैं शास्त्रविद् तो हूँ, किंतु आत्मविद् नहीं। आत्मविद् हुए बिना शांति को नहीं पाया जा सकता। यद्यपि मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम विज्ञान और उसकी उपलब्धियों को तिलांजलि दे दें। वैज्ञानिक उपलब्धियों का परित्याग न तो सम्भव है, न औचित्यपूर्ण है, किंतु अध्यात्म ही विज्ञान का अनुशासक हो, तभी एक समग्रता या पूर्णता आएगी और मनुष्य एक साथ समृद्धि और शांति को पा सकेगा। ईशावास्योपनिषद् में जिसे हम पदार्थ-ज्ञान या विज्ञान कहते हैं, उसे अविद्या कहा गया है और जिसे हम अध्यात्म कहते हैं, विद्या कहा गया है। उपनिषद्कार दोनों के सम्बंध को उचित बताते हुए कहता है- जो पदार्थ-विज्ञान या अविद्या की उपासना करता

है, वह अंधकार में, तमस में प्रवेश करता है, क्योंकि विज्ञान या पदार्थ-विज्ञान अंधा है, किंतु साथ ही वह यह भी चेतावनी देता है कि जो केवल विद्या में रत हैं, वे उससे अधिक अंधकार में चले जाते हैं (अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः)। वस्तुतः वह जो अविद्या और विद्या दोनों की एक साथ उपासना करता है वह अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करता है अर्थात् वह सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाता है और विद्या द्वारा अमृत प्राप्त करता है। विद्या चाविद्या च यस्तवेदोमयं सह। अविद्याया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ वस्तुतः यह अमृत आत्म-शांति या आत्मतोष ही है। अतः जब विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय होगा तभी मानवता का कल्याण होगा। विज्ञान जीवन के कष्टों को समाप्त कर देगा और अध्यात्म आंतरिक शांति को प्रदान करेगा। आचारांगसूत्र में महावीर ने अध्यात्म के लिए 'अज्ज्ञत्थ' शब्द का प्रयोग किया है और यह बताया है कि इसी के द्वारा आत्म-विशुद्धि को प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः अध्यात्म कुछ नहीं है, वह आत्म-उपलब्धि या आत्म-विशुद्धि की ही एक प्रक्रिया है, उसका प्रारम्भ आत्मज्ञान से है और उसकी परिनिष्पत्ति आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति अटूट निष्ठा में है। वस्तुतः आज जितनी मात्रा में पदार्थ-विज्ञान विकसित हुआ है, उतनी ही मात्रा में आत्मज्ञान को विकसित होना चाहिए। विज्ञान की दौड़ में अध्यात्म पीछे रह गया है। पदार्थ को जानने के प्रयत्नों में हम अपने को भुला बैठे हैं। मेरी दृष्टि में आत्मज्ञान कोई अमूर्त, तात्त्विक आत्मा की खोज नहीं है, बल्कि अपने आपको जानना है। अपने आपको जानने का तात्पर्य अपने में निहित वासनाओं और धिकारों को देखना है। आत्मज्ञान का अर्थ होता है- हम यह देखें कि हमारे जीवन में कहां अहंकार छिपा पड़ा है और कहां किसके प्रति घृणा-विद्वेष के तत्त्व पल रहे हैं। आत्मज्ञान कोई हौबवा नहीं है, वह तो अपने अंदर झांककर अपनी वृत्तियों और वासनाओं को पढ़ने की कला है। विज्ञान द्वारा प्रदत्त तकनीक के सहारे हम पदार्थों का परिशोधन करना तो सीख गए और परिशोधन से कितनी किसे शक्ति प्राप्त होती है, यह भी जान गए, किंतु आत्मा के परिशोधन की जो कला अध्यात्म के नाम से हमारे ऋषि-मुनियों ने दी, आज हम उसे भूल चुके हैं।

फिर भी विज्ञान ने आज हमारी सुख-सुविधा प्रदान करने के अतिरिक्त जो सबसे बड़ा उपकार किया है, वह यह कि धर्मवाद के नाम पर जो अंधश्रद्धा और अंधविश्वास पल रहे थे, उन्हें तोड़ दिया है। इसका टूटना आवश्यक भी था, क्योंकि परलोक की लोरी सुनाकर मानव समाज को अधिक समय तक भ्रम में रखना सम्भव नहीं था। विज्ञान ने अच्छा ही किया हमारा यह भ्रम तोड़ दिया। किंतु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि भ्रम

का टूटना ही पर्याप्त नहीं है। इससे जो रिक्तता पैदा हुई है उसे आध्यात्मिक मूल्यनिष्ठा के द्वारा ही भरना होगा। यह आध्यात्मिक मूल्यनिष्ठ उच्च मूल्यों के प्रति निष्ठा है, जो जीवन को शांति और आत्मसंतोष प्रदान करते हैं।

अध्यात्म और विज्ञान का संघर्ष वस्तुतः भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का संघर्ष है। अध्यात्म की शिक्षा यही है कि भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही अंतिम लक्ष्य नहीं है। दैहिक एवं आत्मिक मूल्यों से परे सामाजिकता और मानवता के उच्च मूल्य भी हैं। महावीर की दृष्टि में अध्यात्मवाद का अर्थ है, पदार्थ को परम मूल्य न मानकर आत्मा को ही परम मूल्य मानना। भौतिकवादी दृष्टि के अनुसार सुख और दुःख वस्तुगत तथ्य हैं। अतः भौतिकवादी सुखों की लालसा में वह वस्तुओं के पीछे दौड़ता है तथा उनकी उपलब्धि हेतु शोषण और संग्रह जैसी सामाजिक बुराइयों को जन्म देता है, जिससे वह स्वयं तो संतुष्ट होता ही है, साथ ही साथ समाज को भी संतुष्ट बना देता है। इसके विपरीत अध्यात्मवाद हमें यह सिखाता है कि सुख का केंद्र वस्तु में न होकर आत्मा में है। सुख-दुःख आत्म-केंद्रित है। आत्मा या व्यक्ति ही अपने सुख-दुःख का कर्ता और भोक्ता है। वही अपना मित्र और वही अपना शत्रु है। सुप्रतिष्ठित अर्थात् सदगुणों में स्थित आत्मा मित्र है और दुःप्रतिष्ठित अर्थात् दुर्गुणों में स्थित आत्मा शत्रु है। वस्तुतः आध्यात्मिक आनंद की उपलब्धि पदार्थों में न होकर सदगुणों में स्थित आत्मा में होती है। अध्यात्मवाद के अनुसार देहादि सभी आत्मेत्तर पदार्थों के प्रति ममत्वबुद्धि का विसर्जन साधना का मूल उत्स है। ममत्व का विसर्जन और समत्व का सृजन यही जीवन का परम मूल्य है। जैसे ही ममत्व का विसर्जन होगा समत्व का सृजन होगा और जब समत्व का सृजन होगा तो शोषण और संग्रह की सामाजिक बुराइयां समाप्त होंगी। परिणामतः व्यक्ति आत्मिक शांति का अनुभव करेगा। अध्यात्मवादी समाज में विज्ञान तो रहेगा, किंतु उसका उपयोग संहार में न होकर सृजन में होगा, मानवता के कल्याण में होगा।

अंत में पुनः मैं यही कहना चाहूंगा कि विज्ञान के कारण जो एक संत्रास की स्थिति मानव समाज में दिखाई दे रही है, उसका मूल कारण विज्ञान नहीं, अपितु व्यक्ति की संकुचित और स्वार्थवादी दृष्टि ही है। विज्ञान तो निरपेक्ष है, वह न अच्छा है और न बुरा। उसका अच्छा या बुरा होना उसके उपयोग पर निर्भर करता है और इस उपयोग का निर्धारण व्यक्ति के अधिकार की वस्तु है। अतः आज विज्ञान को नकारने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है उसे सम्यक् - दिशा में नियोजित करने की और यह सम्यक् -

दिशा अन्य कुछ नहीं, यह सम्पूर्ण मानवता के कल्याण की व्यापक आकांक्षा ही है और इस आकांक्षा की पूर्ति अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय में है। काश मानवता इन दोनों में समन्वय कर सके, बस यही कामना है।

अध्यात्मवाद और उपाध्याय यशोविजयजी का साहित्य

जैन आचार्यों में विपुल अध्यात्मवादी साहित्य सृजन की दृष्टि से श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र के पश्चात् यदि कोई महत्त्वपूर्ण लेखक हुए हैं तो वे उपाध्याय यशोविजयजी हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने जैनधर्म-दर्शन और साधना के विविध पक्षों पर अपने ग्रंथ लिखे हैं। उनका चिंतन और लेखन बहुआयामी है। 'अध्यात्मसार' ज्ञानसार और अध्यात्मोपनिषद् के पश्चात् उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति मानी जाती है। उपाध्याय यशोविजयजी ने प्रायः प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और मरुगुर्जर (प्राचीन हिन्दी) आदि में अपने ग्रंथ लिखे हैं।

अध्यात्मसार नामक प्रस्तुत कृति में संस्कृत भाषा में निबद्ध १४९ श्लोक हैं। प्रस्तुत कृति का उद्देश्य व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना को विकसित करना ही है। अध्यात्मवाद की दृष्टि से उन्होंने जिन ग्रंथों की रचना की उनमें अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, आत्मख्याति, ज्ञानसार, ज्ञानार्णव आदि प्रमुख हैं। इनमें भी अध्यात्मसार का स्थान सर्वोपरि माना जा सकता है, क्योंकि यह ग्रंथ आकार और विषय विस्तार दोनों की अपेक्षा से ही महत्त्वपूर्ण है। ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय मुख्य रूप से आध्यात्मिक साधना के प्रमुख बिंदुओं को स्पष्ट करते हुए आगे बढ़ता है।

अध्यात्मसार की विषय-वस्तु - अध्यात्मसार में निम्न सात प्रबंध अर्थात् विभाग हैं। अध्यात्मसार नामक प्रथम प्रबंध में अध्यात्म का महत्त्व उसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए दम्भ त्याग और भवस्वरूप चिन्ता ऐसे चार अधिकार श्लोक क्रमांक १ से लेकर १०२ तक इन चारों अधिकारों पर विवेचना प्रस्तुत की गई है। अध्यात्मसार का दूसरा प्रबंध मुख्यतया वैराग्य से सम्बंधित है। इसके अंतर्गत तीन अधिकार हैं। वैराग्य की सम्भावना वैराग्य के भेद और वैराग्य के बिना आध्यात्मिक विकास की सम्भावना ही नहीं होती है। प्रस्तुत ग्रंथ के तृतीय प्रबंध में क्रमशः चार अधिकार हैं। ममत्व त्याग अधिकार, समत्व साधना अधिकार, सदनुष्ठानाधिकार, मनःशुद्धि अधिकार। प्रथमतया इस प्रबंध में इस बात पर बल दिया गया है कि ममत्व के त्याग के बिना जीवन में समता का आविर्भाव नहीं होता है और बिना समता के सदनुष्ठान नहीं होता और बिना सदनुष्ठान के मनःशुद्धि

नहीं होती है और मनःशुद्धि के बिना आत्मशुद्धि भी सम्भव नहीं है। वस्तुतः यह तृतीय प्रबंध आत्मविशुद्धि के ही चार चरणों को स्पष्ट करता है, जिसमें ममत्व त्याग, समत्व की साधना, सदनुष्ठान और मनःशुद्धि में चार आधार स्तम्भ हैं। अध्यात्मसार का चौथा प्रबंध सम्यक्त्व से सम्बंधित है। इसमें लगभग १५८ श्लोक हैं। प्रस्तुत प्रबंध निम्न तीन अधिकारों में विभक्त है। सम्यक्त्व अधिकार, मिथ्यात्व त्याग अधिकार और असदग्रहत्याग अधिकार। इनमें असद् आग्रह का त्याग और मिथ्यात्व का त्याग ही सम्यक्त्व की भूमिका को स्पष्ट करता है। जब मिथ्या आग्रहों का त्याग होता है, तभी मिथ्यात्व का त्याग होता है और मिथ्यात्व के त्याग से ही सम्यक्त्व का प्रकटन होता है और बिना सम्यक्त्व को प्राप्त किए आत्मविशुद्धि और आध्यात्मिक विकास सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह चतुर्थ प्रबंध आध्यात्मिक विकास के लिए आधारभूत है।

अध्यात्मसार का पांचवां प्रबंध योग अधिकार से प्रारम्भ होता है। इसमें मुख्यतया योग और ध्यान से सम्बंधित विषय की चर्चा की गई है। यह अधिकार ८२ श्लोकों में निबद्ध है और योग और ध्यान की विस्तार से चर्चा करता है। इसमें तीन अधिकार हैं- योग अधिकार, ध्यान अधिकार और ध्यान स्तुति अधिकार। इस प्रबंध को भी हम आध्यात्मिक साधन का एक प्रमुख अंग मान सकते हैं, क्योंकि अध्यात्मिक साधना बिना योग और ध्यान के सम्भव नहीं होते हैं। अतः प्रस्तुत प्रबंध आत्मविशुद्धि के साधना मार्ग को प्रस्तुत करता है। अध्यात्मसार के छह प्रबंध में दो अधिकार हैं- आत्मनिश्चय अधिकार और जिनमत स्तुति अधिकार। आत्मनिश्चय अधिकार योग और ध्यान की उपलब्धि रूप है। आत्मनिश्चय ही जिनमत का सारभूत तत्त्व है और वस्तुतः यह आत्मोपलब्धि ही जिनमत स्तुति का आधार बनती है, क्योंकि साध्य की सिद्धि के महत्त्व को स्पष्ट कर देती है।

अध्यात्मसार का सातवां प्रबंध अतिसंक्षिप्त है और इसमें मात्र ६० श्लोक हैं। यह दो भागों में विभक्त है। अनुभव अधिकार और सज्जन स्तुति अधिकार। ध्यान और योग के माध्यम से जो आत्मनिश्चय होता है वही आत्मानुभूति के रूप में परिणत हो जाता है। यह आत्मानुभूति ही समग्र साधना का आधारभूत है और इससे व्यक्ति का एक अन्यरूप में ही प्रकट होता है, उसी को सज्जनस्तुति के नाम से इस ग्रंथ में अभिव्यक्त किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का एक समग्र चित्र प्रस्तुत करती है।

आज से लगभग ४ वर्ष पूर्व साध्वी श्री प्रीतिदर्शनाजी से उनके शोध विषय के

सम्बंध में चर्चा हुई तो मैंने उनकी आध्यात्मिक रुचि को देखते हुए उन्हें उपाध्याय यशोविजयजी के अध्यात्मवाद पर शोध कार्य करने के लिए कहा। इस हेतु उनके आधारभूत ग्रंथों की खोज की तो पता चला कि उपाध्याय यशोविजयजी के आध्यात्मिक दृष्टि से युक्त निम्न तीन ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं - अध्यात्मसार, ज्ञानसार और अध्यात्मोपनिषद्। मैंने उन्हें इन्हीं तीन ग्रंथों के आधार पर अपने शोधकार्य को आगे बढ़ाने को कहा, किंतु अध्यात्मसार का कोई भी हिन्दी रूपांतरण न होने से सर्वप्रथम यही निश्चय किया गया कि इस शोधकार्य की दिशा में आगे बढ़ने के पूर्व इसका हिन्दी अनुवाद करने का प्रयत्न किया जाए। अतः मैंने यह कार्य उन्हें ही सौंपा और इस प्रकार मेरे मार्गदर्शन एवं सहयोग से ग्रंथ का अनुवाद भी पूर्ण हुआ और उनका शोध-प्रबंध भी तैयार हुआ।

मेरी दृष्टि में श्वेताम्बर परम्परा में जो आध्यात्मिक दृष्टि सम्बंधी ग्रंथ मिलते हैं, उनमें अध्यात्मसार का स्थान सर्वोपरि कहा जा सकता है। स्वाध्यायरसिक पाठकों के लिए उनकी आध्यात्मिक अभिरुचि जीवंत रखने के लिए इस ग्रंथ का स्वाध्याय महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। अतः इसका प्रकाशन हो, यह भी आवश्यक समझा गया। यद्यपि डॉ. रमणलाल पी. शाह का अध्यात्मसार गुजराती अनुवाद सहित उपलब्ध होता है। किंतु हिन्दी अनुवाद सहित इस ग्रंथ का कोई भी संस्करण उपलब्ध नहीं था, अतः इसके प्रकाशन के लिए प्रयास किए गए। आचार्य श्री जयंतसेन सूरीश्वरजी मसा से निवेदन किया गया और उन्होंने राजराजेंद्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद के द्वारा इसके प्रकाशन की अनुमति प्रदान की। आज यह प्रसन्नता का विषय है कि उक्त प्रकाशन से यह ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। निश्चय ही यह प्रकाशन साध्वीश्री प्रीतिदर्शनाजी के श्रम को सार्थक करेगा और स्वाध्याय रसिकों के लिए न केवल उनकी स्वाध्याय रुचि को विकसित करने वाला होगा, अपितु उसके माध्यम से वे अपने आध्यात्मिक विकास के मार्ग में आगे बढ़ेंगे।

आचार दिनकर की भूमिका

किसी भी धर्म या साधना पद्धति के दो पक्ष होते हैं - १. विचार पक्ष और २. आचार पक्ष। जैन धर्म भी एक साधना पद्धति है। अतः उसमें भी इन दोनों पक्षों का समायोजन पाया जाता है। जैन धर्म मूलतः भारतीय श्रमण परम्परा का धर्म है। भारतीय श्रमण परम्परा अध्यात्मपरक रही है और यही कारण है कि उसने प्रारम्भ में वैदिक कर्मकाण्डीय परम्परा की आलोचना भी की थी, किंतु कालान्तर में वैदिक परम्परा के कर्मकाण्डों का प्रभाव उस पर भी आया। यद्यपि प्राचीन काल में जो जैन अगम ग्रंथ निर्मित हुए, उनमें आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षाएं ही प्रधान रही हैं, किंतु कालान्तर में जो जैन ग्रंथ निर्मित हुए उनमें वैदिक परम्परा के प्रभाव से कर्मकाण्ड का प्रवेश भी हुआ। पहले गौण रूप में और फिर प्रकट रूप में कर्मकाण्ड परक ग्रंथ जैन परम्परा में भी लिखे गए। भारतीय वैदिक परम्परा में यज्ञ-याग आदि के साथ-साथ गृही जीवन के संस्कारों का भी अपना स्थान रहा है और प्रत्येक संस्कार के लिए यज्ञ-याग एवं तत्सम्बन्धी कर्मकाण्ड एवं उसके मंत्र भी प्रचलित रहे। मेरी यह सुस्पष्ट अवधारणा है कि जैन परम्परा में षोडश संस्कारों का और उनके विधि-विधान का जो प्रवेश हुआ है, वह मूलतः हिन्दू परम्परा के प्रभाव से ही आया है। यद्यपि परम्परागत अवधारणा यही है कि गृहस्थों के षोडश संस्कार और उनके विधि-विधान भगवान् ऋषभदेव के द्वारा प्रवर्तित किए गए थे। आचारदिनकर में भी वर्धमानसूरि ने इसी परम्परागत मान्यता का उल्लेख किया है। जहां तक जैन आगमों का प्रश्न है, उसमें कथापरक आगमों में गर्भधान संस्कार का तो कोई उल्लेख नहीं है, किंतु उनमें तीर्थकरों के जीव के गर्भ में प्रवेश के समय माता द्वारा स्वप्न दर्शन के उल्लेख मिलते हैं। इसके अतिरिक्त जातकर्म संस्कार, सूर्य-चंद्र दर्शन संस्कार, षष्ठी संस्कार, नामकरण संस्कार, विद्याध्ययन संस्कार आदि कुछ संस्कारों के उल्लेख भी उनमें मिलते हैं, किंतु वहां तत्सम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख नहीं मिलता है, फिर भी इससे इतना तो सिद्ध होता है कि उस काल में जैन परम्परा में भी संस्कार सम्बन्धी कुछ विधान किए जाते थे। यद्यपि मेरी अवधारणा यही है कि जैन समाज के बृहद हिन्दू समाज का ही एक अंग होने के कारण जन सामान्य में प्रचलित जो संस्कार आदि की सामाजिक क्रियाएं थी, वे जैनों द्वारा भी मान्य थी, किंतु ये संस्कार जैन धर्म की निवृत्तिपरक साधना विधि का अंग रहे होंगे, यह कहना कठिन है।

जहां तक संस्कार सम्बंधी स्वतंत्र ग्रंथों की रचना का प्रश्न है, वे आगमिकव्याख्याकाल के पश्चात् निर्मित होने लगे थे, किंतु उन ग्रंथों में भी गृहस्थ जीवन सम्बंधी षोडश संस्कारों का कोई उल्लेख हमें नहीं मिलता है। मात्र दिगम्बर परम्परा में जो पुराणग्रंथ हैं, किंतु उनमें इन संस्कारों के विधि-विधान के मात्र संसूचनात्मक कुछ निर्देश ही मिलते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य हरिभद्र (लगभग आठवीं शती) के ग्रंथ जैसे अष्टकप्रकरण, पंचाशक प्रकरण, पंचवस्तु आदि में भी विधि-विधान सम्बंधी कुछ उल्लेख तो मिलते हैं, किंतु उनमें जो विधि-विधान सम्बंधी उल्लेख हैं, वे प्रथमतः तो अत्यंत संक्षिप्त हैं और दूसरे उनमें या तो जिनपूजा, जिनभवन, जिनयात्रा, मुनि दीक्षा आदि से सम्बंधित ही कुछ विधि-विधान मिलते हैं या फिर मुनि आचार सम्बंधी कुछ विधि-विधान का उल्लेख उनमें हुआ है। गृहस्थ-के षोडश संस्कारों का सुव्यवस्थित विवरण हमें आचार्य हरिभद्र के ग्रंथों में देखने को नहीं मिलता है। आचार्य हरिभद्र के पश्चात् नवमीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक मुनि आचार सम्बंधी अनेक ग्रंथों की रचना हुई। जैसे- पादलिप्तसूरिकृत निर्वाणकलिका, जिनवल्लभसूरि विरचित संघपट्टक, चंद्रसूरि की सुबोधसमाचारी, तिलकाचार्यकृत समाचारी, हेमचंद्राचार्य का योगशास्त्र समाचारीशतक आदि कुछ ग्रंथ है। किंतु ये सभी ग्रंथ भी मुख्यतया: साधना परक और मुनि जीवन से सम्बंधित आचार-विचार का ही उल्लेख करते हैं। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से विधि-विधान सम्बंधी जिन ग्रंथों की रचना हुई, उसमें 'विधिमार्गप्रपा' को एक प्रमुख ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, किंतु इसमें भी जो विधि-विधान वर्णित है, उनका सम्बंध मुख्यतः मुनि आचार से ही है या फिर किसी सीमा तक जिनभवन, जिनप्रतिमा, प्रतिष्ठा आदि से सम्बंधित उल्लेख है। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में पं. आशाधर के सागरधर्मासूत एवं अणगारधर्मासूत में तथा प्रतिष्ठाकल्प में कुछ विधि-विधानों का उल्लेख हुआ है। सागर-धर्मासूत में गृहस्थ जीवन से सम्बंधित कुछ विधि-विधान चर्चित अवश्य हैं, किंतु उसमें भी गर्भधान, पुंसवन जातकर्म, षष्ठीपूजा, अन्नप्राशन, कर्णवेध आदि का कोई विशेष उल्लेख नहीं है। गृहस्थ जीवन, मुनिजीवन और सामान्य विधि-विधान से सम्बंधित मेरी जानकारी में यदि कोई प्रथम ग्रंथ है तो वह वर्धमानसूरीकृत आचारदिनकर (वि.सं. १४६८) ही है।

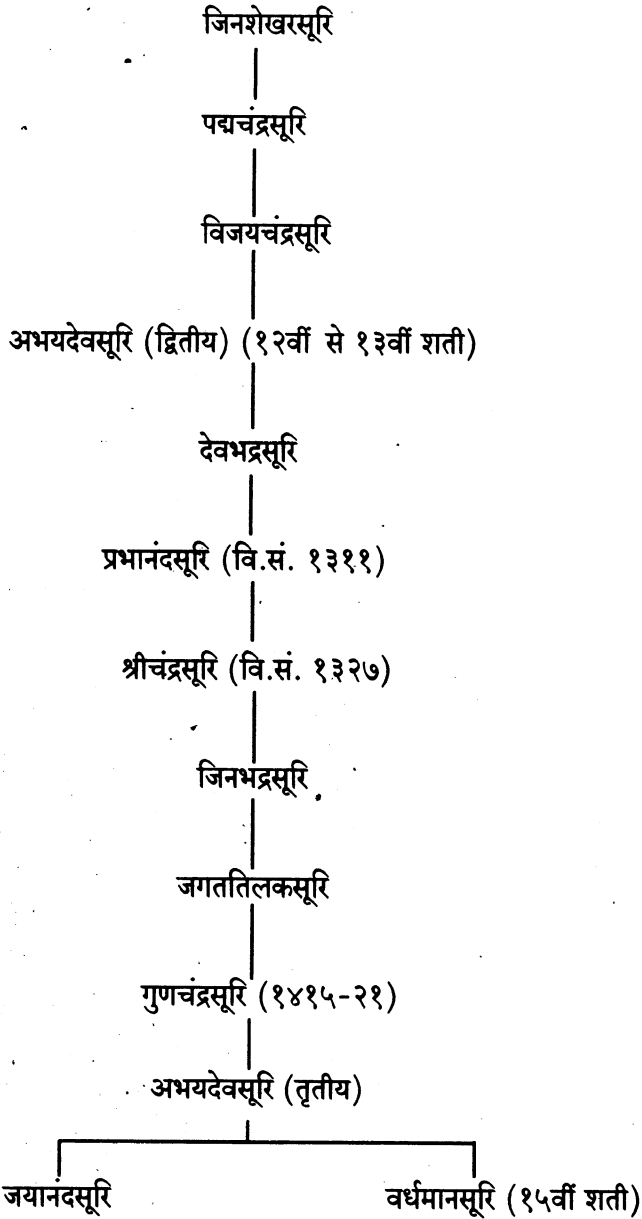
ग्रंथ के रचियता और रचनाकाल

जहां तक इस ग्रंथ के रचियता एवं रचना काल का प्रश्न है, इस ग्रंथ की प्रशस्ति

में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया गया है कि वि.सं. १४६८ में जालंधर नगर (पंजाब) में इस ग्रंथ की रचना हुई। ग्रंथ प्रशस्ति से यह भी स्पष्ट होता है कि यह ग्रंथ अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानसूरि द्वारा रचित है। अभयदेवसूरि और वर्धमानसूरि जैसे प्रसिद्ध नामों को देखकर सामान्यतया: चंद्रकुल के वर्धमानसूरि, नवांगीटीकार अभयदेवसूरि का स्मरण हो आता है, किंतु आचारदिनकर के कर्ता वर्धमानसूरि इनसे भिन्न हैं। अपनी सम्पूर्ण वंश परम्परा का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपने को खरतरगच्छ की रूद्रपल्ली शाखा के अभयदेवसूरि (तृतीय) का शिष्य बताया है। ग्रंथ प्रशस्ति में उन्होंने जो अपनी गुरु परम्परा सूचित की है, वह इस प्रकार है-

आचार्य हरिभद्र
 |
 देवचंद्रसूरि
 |
 नेमीचंद्रसूरि
 |
 उद्योतनसूरि
 |
 वर्धमानसूरि
 |
 जिनेश्वरसूरि
 |
 अभयदेवसूरि (प्रथम)
 |
 जिनवल्लभसूरि

इसके पश्चात् जिनवल्लभ के शिष्य जिनशेखर से रूद्रपल्ली शाखा की स्थापना को बताते हुए उसकी आचार्य परम्परा जिन्म प्रकार से दी है-



प्रस्तुत कृति में वर्धमानसूरि ने जो अपनी गुरु परम्परा दी है, उससे यह स्पष्ट हो

जाता है कि वे खरतरगच्छ की, रूद्रपल्ली शाखा से सम्बंधित थे। ज्ञातव्य है कि जिनवल्लभसूरि के गुरु भ्राता जिनशेखरसूरि ने जिनदत्तसूरि द्वारा जिनचंद्रसूरि को अपने पट्ट पर स्थापित करने से रूठ होकर उनसे पृथक् हो गए और उन्होंने रूद्रपल्ली शाखा की स्थापना की। ऐसा लगता है कि जहां जिनदत्तसूरि की परम्परा ने उत्तर-पश्चिम भारत को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाया वही जिनशेखर सूरि ने पूर्वोत्तर क्षेत्र को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाकर विचरण किया। रूद्रपल्ली शाखा का उद्भव लखनऊ और अयोध्या के मध्यवर्ती रूद्रपल्ली नामक नगर में हुआ और इसीलिए इसका नाम रूद्रपल्ली शाखा पड़ा। वर्तमान में भी यह स्थान रूद्रौली के नाम से प्रसिद्ध है- इस शाखा का प्रभाव क्षेत्र पश्चिमी उत्तरप्रदेश, हरियाणा और पंजाब तक रहा। प्रस्तुत आचारदिनकर की प्रशस्ति से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रंथ की रचना पंजाब के जालंधर नगर के नंदनवन में हुई, जो रूद्रपल्ली शाखा का प्रभाव क्षेत्र रहा होगा। यह स्पष्ट है कि रूद्रपल्ली स्वतंत्र गच्छ न होकर खरतरगच्छ का ही एक विभाग था। साहित्यिक दृष्टि से रूद्रपल्ली शाखा के आचार्यों द्वारा अनेक ग्रंथों की रचना हुई। अभयदेवसूरि (द्वितीय) द्वारा जयंतविजय महाकाव्य वि.सं. १२७८ में रचा गया। अभयदेवसूरि (द्वितीय) के पट्टधर देवभद्रसूरि के शिष्य तिलकसूरि ने गौतमपृच्छावृत्ति की रचना की है। उनके पश्चात् प्रभानंदसूरि ने ऋषभपंचाशिकावृत्ति और वीतरागवृत्ति की रचना की। इसी क्रम में आगे संघतिलकसूरि हुए जिन्होंने सम्यक्त्वसप्ततिटीका, वर्धमानविद्याकल्प, षट्दर्शनसमुच्चयवृत्ति की रचना की। इनके द्वारा रचित ग्रंथों में वीरकल्प, कुमारपालचरित्र, शीलतरंगिनीवृत्ति, कन्यानयनमहावीरप्रतिमाकल्प (प्रदीप) आदि कृतियां भी मिलती हैं। कन्यानयनमहावीरप्रतिमाकल्प की रचना से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शाखा का प्रभाव क्षेत्र पश्चिमी उत्तरप्रदेश था, क्योंकि यह कल्प वर्तमान कन्नौज के भगवान महावीर के जिनालय के सम्बंध में लिखा गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्धमानसूरि जिस रूद्रपल्ली शाखा में हुए वह शाखा विद्वत मुनिजनों और आचार्यों से समृद्ध रही है और यही कारण है कि उन्होंने आचारदिनकर जैसे विधि-विधान सम्बंधी महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की। आचारदिनकर के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि उस पर श्वेताम्बर परम्परा के साथ ही दिगम्बर परम्परा का भी प्रभाव रहा है। यह स्पष्ट है कि पश्चिमी उत्तरप्रदेश और उससे लगे हुए बुंदेलखंड तथा पूर्वी हरियाणा में दिगम्बर परम्परा का भी प्रभाव था। अतः यह स्वाभाविक था कि आचारदिनकर पर दिगम्बर परम्परा का भी

प्रभाव आए। स्वयं वर्धमानसूरि ने भी यह स्वीकार किया है कि मैंने दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा के ग्रंथों तथा उनमें प्रचलित इन विधानों की जीवित परम्परा को देखकर ही इस ग्रंथ की रचना की है। ग्रंथ प्रशस्तियों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रूद्रपल्ली शाखा लगभग बारहवीं शताब्दी में अस्तित्व में आई और उन्नीसवीं शताब्दी तक अस्तित्व में बनी रही। यद्यपि यह सत्य है कि सोलहवीं शती के पश्चात् इस शाखा में कोई प्रभावशाली विद्वान् आचार्य नहीं हुआ, किंतु यति परम्परा और उसके पश्चात् कुलगुरु (मथेण) के रूप में यह शाखा लगभग उन्नीसवीं शताब्दी तक जीवित रही।

ग्रंथकार वर्धमानसूरि का परिचय

जहां तक प्रस्तुत कृति के रचियता वर्धमानसूरि का प्रश्न है, उनके गृही जीवन के सम्बंध में हमें न तो इस ग्रंथ की प्रशस्ति से और न किसी अन्य साधन से कोई सूचना प्राप्त होती है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इनका जन्म रूद्रपल्ली शाखा के प्रभाव क्षेत्र में ही कहीं हुआ होगा। जालंधर (पंजाब) में ग्रंथ रचना करने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका विचरण और स्थिरता का क्षेत्र पंजाब और हरियाणा रहा होगा। इनके गुरु अभयदेवसूरि (तृतीय) द्वारा फाल्गुन सुद तीज, शुक्रवार वि.सं. १४३२ में अंजनशलाका की हुई शान्तिनाथ भगवान् की धातु की प्रतिमा, आदिनाथ जिनालय पूना में उपलब्ध हैं। इससे यह सुनिश्चित है कि वर्धमानसूरि विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी में हुए। इनके गुरु अभयदेवसूरि द्वारा दीक्षित होने के सम्बंध में भी किसी प्रकार की कोई शंका नहीं की जा सकती, किंतु इनकी दीक्षा कब और कहां हुई इस सम्बंध में अधिक कुछ कहना सम्भव नहीं है।

ग्रंथकर्ता और उसकी परम्परा की इस चर्चा के पश्चात् हम ग्रंथ के सम्बंध में कुछ विचार करेंगे।

ग्रंथ की विषयवस्तु

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर नामक यह ग्रंथ संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में रचित है। भाषा की दृष्टि से इसकी संस्कृत भाषा अधिक प्रांजल नहीं है और न अलंकार आदि के घटाटोप से क्लिष्ट है। ग्रंथ सामान्यतया: सरल संस्कृत में ही रचित है। यद्यपि जहां-जहां आगम और प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों के प्रमाण प्रस्तुत करने का प्रश्न उपस्थित हुआ है, वहां-वहां इसमें प्राकृत पद्य और गद्य अवतरित भी किए गए हैं। कहीं-कहीं तो

यह भी देखने में आया है कि प्राकृत का पूरा का पूरा ग्रंथ ही अवतरित कर दिया गया है, जैसे प्रायश्चित्त विधान के सम्बंध में जीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प आदि ग्रंथ उद्धरित हुए। ग्रंथ की जो प्रति प्रथमतः प्रकाशित हुई है, उसमें संस्कृत भाषा सम्बंधी अनेक अशुद्धियां देखने में आती हैं- इन अशुद्धियों के कारण का यदि हम विचार करें तो दो सम्भावनाएं प्रतीत होती हैं- प्रथमतः यह हो सकता है कि जिस हस्त प्रत के आधार पर यह ग्रंथ छपाया गया हो वहीं अशुद्ध रही हो, दूसरे यह भी सम्भावना हो सकती है कि प्रस्तुत ग्रंथ का पुफ़ रीडिंग सम्यक् प्रकार से नहीं किया गया हो। चूंकि इस ग्रंथ का अन्य कोई संस्करण भी प्रकाशित नहीं हुआ है और न कोई हस्तप्रत ही सहज उपलब्ध है- ऐसी स्थिति में पूज्या साध्वीजी ने इस अशुद्ध प्रत के आधार पर ही यह अनुवाद करने का प्रयत्न किया है, अतः अनुवाद में यत्र-तत्र खलन की कुछ सम्भावनाएं हो सकती हैं। क्योंकि अशुद्ध पाठों के आधार पर सम्यक् अर्थ का निर्धारण करना एक कठिन कार्य होता है। फिर भी इस दिशा में जो यह प्रयत्न हुआ है, वह सराहनीय ही कहा जाएगा।

यद्यपि जैन परम्परा में विधि-विधान से सम्बंधित अनेक ग्रंथों की रचना हुई है। आचार्य हरिभद्रसूरि के पंचवस्तु प्रकरण से लेकर आचारदिनकर तक विधि-विधान सम्बंधी ग्रंथों की समृद्ध परम्परा रही है, किंतु आचारदिनकर के पूर्व जो विधि-विधान सम्बंधी ग्रंथ लिखे गए उन ग्रंथों में दो ही पक्ष प्रबल रहे- १. मुनि आधार सम्बंधी ग्रंथ और २. पूजा पाठ, प्रतिष्ठा सम्बंधी ग्रंथ। निर्वाणकलिका, विधिमार्गप्रपा, समाचारी, सुबोधासमाचारी आदि ग्रंथों में हमें या तो दीक्षा आदि मुनि जीवन से सम्बंधित विधि-विधान का उल्लेख मिलता है या फिर मंदिर एवं मूर्ति निर्माण, मूर्तिप्रतिष्ठा, मूर्ति पूजा आदि से सम्बंधित विधि-विधानों का उल्लेख मिलता है। इन पूर्ववर्ती ग्रंथों में श्रावक से सम्बंधित जो विधि-विधान मिलते हैं, उनमें से मुख्य रूप से सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण एवं उपधान से सम्बंधित ही विधि-विधान मिलते हैं। सामान्यतः गृहस्थ जीवन से सम्बंधित संस्कारों के विधि-विधानों का उनमें प्रायः अभाव ही देखा जाता है। यद्यपि आगम युग से ही जन्म, नामकरण आदि सम्बंधी कुछ क्रियाओं (संस्कारों) के उल्लेख मिलते हैं, किंतु तत्सम्बंधी जैन परम्परा के अनुकूल विधि-विधान क्या थे? इसकी कोई चर्चा नहीं मिलती है।

दिगम्बर परम्परा के पुराण साहित्य में भी इन संस्कारों के उल्लेख तथा उनके करने सम्बंधी कुछ निर्देश तो मिलते हैं, किंतु वहां भी एक सुव्यवस्थित समग्र विधि-विधान का प्रायः अभाव ही देखा जाता है। वर्धमानसूरि का आचारदिनकर जैन परम्परा

का ऐसा प्रथम ग्रंथ है, जिसमें गृहस्थ के षोडश संस्कारों सम्बन्धी विधि-विधानों का सुस्पष्ट विवेचन हुआ है।

आचारदिनकर नामक यह ग्रंथ चालीस उदर्यों में विभाजित है। आचार्य वर्धमानसूरि ने स्वयं ही इन चालीस उदर्यों को तीन भागों में वर्गीकृत किया है। प्रथम विभाग में गृहस्थ सम्बन्धी षोडश संस्कारों का विवेचन है, दूसरे विभाग में मुनि जीवन से सम्बन्धित षोडश संस्कारों का विवेचन है और अंतिम तृतीय खण्ड के आठ उदर्यों में गृहस्थ और मुनि दोनों द्वारा सामान्य रूप से आचरणीय आठ विधि-विधानों का उल्लेख है। इस ग्रंथ में वर्णित चालीस विधि-विधानों को निम्न सूची द्वारा जाना जा सकता है-

(अ) गृहस्थ सम्बन्धी	(ब) मुनि सम्बन्धी	(स) मुनि एवं गृहस्थ सम्बन्धी
१. गर्भाधान संस्कार	१. ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण संस्कार	१. प्रतिष्ठा विधि
२. पुंसवन संस्कार	२. क्षुल्लक विधि	२. शांतिक-कर्म विधि
३. जातकर्म संस्कार	३. प्रव्रज्या विधि	३. पौष्टिक-कर्म विधि
४. सूर्य-चंद्र दर्शन संस्कार	४. उपस्थापना विधि	४. बलि विधान संस्कार
५. क्षीराशन संस्कार	५. योगोद्धहन विधि	५. प्रायश्चित्त विधि
६. षष्ठी संस्कार	६. वाचनाग्रहण विधि	६. आवश्यक विधि
७. शुचि संस्कार	७. वाचनानुज्ञा विधि	७. तप विधि
८. नामकरण संस्कार	८. उपाध्यायपद स्थापना विधि	८. पदारोपण विधि
९. अन्न प्राशन संस्कार	९. आचार्यपद स्थापना विधि	
१०. कर्णविध संस्कार	१०. प्रतिमाउद्धहन विधि	
११. चूडाकरण संस्कार	११. व्रतिनी व्रतदान विधि	
१२. उपनयन संस्कार	१२. प्रवर्तिनीपद स्थापना विधि	
१३. विद्यारम्भ संस्कार	१३. महत्तरापद स्थापना विधि	
१४. विवाह संस्कार	१४. अहोरात्र चर्या विधि	
१५. व्रतारोपण संस्कार	१५. ऋतुचर्या विधि	
१६. अन्त्य संस्कार	१६. अन्तसंलेखना विधि	

तुलनात्मक विवेचन

जहां तक प्रस्तुत कृति में वर्णित गृहस्थ जीवन सम्बंधी षोडश संस्कारों का प्रश्न है, ये संस्कार भारतीय समाज में प्रचलित रहे हैं, सत्य यह है कि ये संस्कार धार्मिक संस्कार न होकर सामाजिक संस्कार रहे हैं और यही कारण है कि भारतीय समाज के श्रमण धर्मों में भी इनका उल्लेख मिलता है। जैन परम्परा के आगमों जैसे ज्ञाताधर्मकथा, औपपातिक, राजप्रश्नीय, कल्पसूत्र आदि में इनमें से कुछ संस्कारों का जैसे जातकर्म या जन्म संस्कार, सूर्य-चंद्र दर्शन संस्कार, षष्ठी संस्कार, नामकरण संस्कार, विद्यारम्भ संस्कार आदि का उल्लेख मिलता है, फिर भी जहां तक जैन आगमों का प्रश्न है, उनमें मात्र उनके नामोल्लेख ही है। तत्सम्बंधी विधि-विधानों का विस्तृत विवेचन नहीं है। जैन आगमों में गर्भाधान संस्कार का उल्लेख न होकर शिशु के गर्भ में आने पर माता द्वारा स्वप्नदर्शन का ही उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार विवाह के भी कुछ उल्लेख है, किंतु उनमें व्यक्ति के लिए विवाह की अनिवार्यता का प्रतिपादन नहीं है और न तत्सम्बंधी किसी विधि विधान का उल्लेख है। दिगम्बर परम्परा के पुराण ग्रंथों में भी इनमें से अधिकांश संस्कारों का उल्लेख हुआ है, किंतु उपनयन आदि संस्कार जो मूलतः हिन्दू परम्परा से ही सम्बंधित रहे हैं, उनके उल्लेख विरल हैं। दिगम्बर परम्परा में मात्र यह निर्देश मिलता है कि भगवान् ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने व्रती श्रावकों को स्वर्ण का उपनयन सूत्र प्रदान किया था। वर्तमान में भी दिगम्बर परम्परा में उपनयन (जनेउ) धारण की परम्परा है। इस प्रकार जैन धर्म में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही प्रमुख परम्पराओं में एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में इन संस्कारों के निर्देश तो हैं, किंतु मूलभूत ग्रंथों में तत्सम्बंधी किसी भी विधि-विधान का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। वर्धमानसूरि की प्रस्तुत कृति का यह वैशिष्ट्य है कि उसमें सर्वप्रथम इन षोडश संस्कारों का विधि-विधान पूर्वक उल्लेख किया गया है। जहां तक मेरी जानकारी है, वर्धमानसूरिकृत इस आचारदिनकर नामक ग्रंथ से पूर्ववर्ती किसी भी जैन ग्रंथ में इन षोडश संस्कारों का उनके विधि-विधान पूर्वक उल्लेख नहीं हुआ। मात्र यही नहीं परवर्ती ग्रंथों में भी ऐसा सुव्यवस्थित विवेचन उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में षोडश संस्कार विधि, जैन विवाहविधि आदि के विधि-विधान से सम्बंधित कुछ ग्रंथ हिन्दी भाषा में प्रकाशित हैं, किंतु जहां तक मेरी जानकारी है, श्वेताम्बर परम्परा में वर्धमानसूरि के पूर्व और उनके पश्चात् भी इन षोडश संस्कारों से सम्बंधित कोई ग्रंथ नहीं लिखा गया। इस प्रकार जैन परम्परा में षोडश संस्कारों का विधिपूर्वक उल्लेख

करने वाला यही एकमात्र अद्वितीय ग्रंथ है। वर्धमानसूरि की यह विशेषता है कि उन्होंने गर्भाधान संस्कार को हिन्दू परम्परा के सीमान्त संस्कार के पूर्व रूप में स्वीकार किया है और यह माना है कि कि गर्भ के स्पष्ट लक्षण प्रकट होने पर ही यह संस्कार किया जाना चाहिए। इस प्रकार उनके द्वारा प्रस्तुत गर्भाधान संस्कार वस्तुतः गर्भाधान संस्कार न होकर सीमान्त संस्कार का ही पूर्व रूप है। वर्धमानसूरि ने गृहस्थ सम्बन्धी जिन षोडश संस्कारों का विधान किया है, उनमें से व्रतारोपण को छोड़कर शेष सभी संस्कार हिन्दू परम्परा के समरूप ही प्रस्तुत किए गए हैं, यद्यपि संस्कार सम्बन्धी विधि-विधान में जैनत्व को प्रधानता दी गई है और तत्सम्बन्धी मंत्र भी जैन परम्परा के अनुरूप ही प्रस्तुत किए गए हैं।

वर्धमानसूरि द्वारा विरचित षोडश संस्कारों और हिन्दू परम्परा में प्रचलित षोडश संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम यह पाते हैं कि इस ग्रंथ में हिन्दू परम्परा के षोडश संस्कारों का मात्र जैनीकरण किया गया है। किंतु जहां हिन्दू परम्परा में विवाह संस्कार के पश्चात् वानप्रस्थ संस्कार का उल्लेख होता है, वहां वर्धमानसूरि ने विवाह संस्कार के पश्चात् व्रतारोपण संस्कार का उल्लेख किया है। व्रतारोपण संस्कार वानप्रस्थ संस्कार से भिन्न है, क्योंकि वह गृहस्थ जीवन में ही स्वीकार किया जाता है। पुनः वह ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण और क्षुल्लक दीक्षा से भी भिन्न है, क्योंकि दोनों में मौलिक दृष्टि से यह भेद है कि ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण तथा क्षुल्लक दीक्षा दोनों में ही स्त्री का त्याग अपेक्षित होता है, जबकि वानप्रस्थाश्रम स्त्री के साथ ही स्वीकार किया जाता है। यद्यपि इसकी क्षुल्लक दीक्षा से इस अर्थ में समानता है कि दोनों ही संन्यास की पूर्व अवस्था एवं गृह त्याग रूप हैं।

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर के दूसरे खण्ड में मुनि जीवन से सम्बन्धित षोडश संस्कारों का उल्लेख है। इन संस्कारों में जहां एक और मुनि जीवन की साधना एवं शास्त्राध्ययन से सम्बन्धित विधि-विधान हैं, वहीं दूसरी ओर साधु-साध्वी के संघ संचालन सम्बन्धी विविध पद एवं उन पदों पर स्थापन की विधि दी गई है। मुनि जीवन से सम्बन्धित ये विधि-विधान वस्तुतः जैन संघ की अपनी व्यवस्था है। अतः अन्य परम्पराओं में तत्सम्बन्धी विधि-विधानों का प्रायः अभाव ही देखा जाता है। वर्धमानसूरि के आचारदिनकर नामक ग्रंथ में इस सम्बन्ध में यह विशेषता है कि वह मुनि की व्रत्रज्या विधि के पूर्व, ब्रह्मचर्य व्रत संस्कार और क्षुल्लक दीक्षा विधि को प्रस्तुत करता है। श्वेताम्बर परम्परा के उनसे पूर्ववर्ती किसी भी ग्रंथ में इस प्रकार विधि-विधान का कहीं भी उल्लेख नहीं है, यद्यपि प्राचीन आगम ग्रंथों जैसे दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि में क्षुल्लकाचार नामक अध्ययन

मिलते हैं, किंतु वे मूलतः नवदीक्षित मुनि के आचार का ही विवेचन प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में ब्रह्मचर्य प्रतिमा और क्षुल्लक दीक्षा के निर्देश मिलते हैं और श्वेताम्बर परम्परा में भी गृहस्थों द्वारा ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार किया जाता है और तत्सम्बन्धी प्रतिज्ञा के आलापक भी हैं, किंतु क्षुल्लक दीक्षा सम्बन्धी कोई विधि-विधान मूल आगम साहित्य में नहीं है, मात्र तत्सम्बन्धी आचार का उल्लेख है। श्वेताम्बर परम्परा में सामायिक चारित्र ग्रहण रूप जिस छोटी दीक्षा का और छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण रूप बड़ी दीक्षा के जो उल्लेख हैं, वे प्रस्तुत ग्रंथ में प्रब्रज्याविधि और उपस्थापनाविधि के नाम से विवेचित हैं।

वर्धमानसूरि की यह विशेषता है कि वे ब्रह्मचर्य व्रत से संस्कारित या क्षुल्लक दीक्षा गृहीत व्यक्ति को गृहस्थों के व्रतारोपण को छोड़कर शेष पंद्रह संस्कारों को करवाने की अनुमति प्रदान करते हैं। यही नहीं यह भी माना गया है कि मुनि की अनुपस्थिति में क्षुल्लक भी गृहस्थ को व्रतारोपण करवा सकता है। उन्होंने क्षुल्लक का जो स्वरूप वर्णित किया है, वह भी वर्तमान में दिगम्बर परम्परा की क्षुल्लक दीक्षा से भिन्न ही हैं। क्योंकि दिगम्बर परम्परा में क्षुल्लक दीक्षा आजीवन के लिए होती है। साथ ही क्षुल्लक को गृहस्थ के संस्कार करवाने का अधिकार भी नहीं है। यद्यपि क्षुल्लक के जो कार्य वर्धमानसूरि ने बताए हैं, वे कार्य दिगम्बर परम्परा में भट्टारकों द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। गृहस्थ के विधि-विधानों की चर्चा करते हुए उन्होंने जैन ब्राह्मण और क्षुल्लक का बार-बार उल्लेख किया है, इससे ऐसा लगता है कि प्रस्तुत कृति के निर्माण में दिगम्बर परम्परा का भी प्रभाव रहा है। स्वयं उन्होंने अपने उपोद्घात में भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मैंने श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित जीवन्त परम्परा को और उनके ग्रंथों को देखकर इस ग्रंथ की रचना की है। वर्धमानसूरि गृहस्थ सम्बन्धी संस्कार हेतु जैन ब्राह्मण की बात करते हैं, किंतु श्वेताम्बर परम्परा में जैन ब्राह्मण कोई व्यवस्था नहीं है, ऐसा उस परम्परा के ग्रंथों से ज्ञात नहीं होता है। सम्भावना यही है श्वेताम्बर परम्परा शिथिल यतियों के द्वारा वैवाहिक जीवन स्वीकार करने पर जो मत्थेण, गौरजी महात्मा आदि की जो परम्परा प्रचलित हुई थी और जो गृहस्थों के कुलगुरु का कार्य भी करते थे, वर्धमानसूरि का जैन ब्राह्मण से आशय उन्हीं से होगा। लगभग ५० वर्ष पूर्व तक ये लोग यह कार्य सम्पन्न करवाते थे।

इस कृति के तृतीय खण्ड में मुनि एवं गृहस्थ दोनों से सम्बन्धित आठ संस्कारों

का उल्लेख किया है, किंतु यदि हम गम्भीरता से विचार करें, तो प्रतिष्ठा विधि, शांतिक कर्म, पौष्टिक कर्म एवं बलिविधान इन चार का सम्बंध मुख्यतः गृहस्थों से है, क्योंकि ये संस्कार गृहस्थों द्वारा और उनके लिए ही सम्पन्न किए जाते हैं। यद्यपि प्रतिष्ठा विधि की अवश्य कुछ ऐसी क्रियाएं हैं, जिन्हें आचार्य या मुनिजन भी सम्पन्न करते हैं। जहां तक प्रायश्चित्त विधान का प्रश्न है, हम देखते हैं कि जैन आगमों में और विशेष रूप से छेदसूत्रों यथा व्यवहारसूत्र, निशीथसूत्र, जीतकल्प आदि में और उनकी निर्युक्ति, भाष्य और चूर्ण में सामान्यतः मुनि की ही प्रायश्चित्त विधि का उल्लेख है। गृहस्थ की प्रायश्चित्त विधि का सर्वप्रथम उल्लेख हमें श्राद्धजीतकल्प में मिलता है। दिगम्बर परम्परा के छेदपिण्ड शास्त्र में भी मुनि के साथ-साथ गृहस्थ के प्रायश्चित्त सम्बंधी विधि-विधान का उल्लेख है। आचारदिनकर में प्रायश्चित्त विधि को प्रस्तुत करते हुए वर्धमानसूरि ने अपनी तरफ से कोई बात न कहकर जीतकल्प, श्रावक जीतकल्प आदि प्राचीन ग्रंथों को ही पूर्णतः उद्धृत कर दिया है। आवश्यक विधि मूलतः श्रावक प्रतिक्रमण विधि और साधु प्रतिक्रमण विधि को ही प्रस्तुत करती है। जहां तक तप विधि का सम्बंध है, इसमें वर्धमानसूरि ने छः बाह्य एवं छः आभ्यन्तर तपों के उल्लेख के साथ-साथ आगम युग से लेकर अपने काल तक प्रचलित विभिन्न तपों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। जहां तक पदारोपण विधि का प्रश्न है, यह विधि मूलतः सामाजिक जीवन और राज्य प्रशासन में प्रचलित पदों पर आरोपण की विधि को ही प्रस्तुत करती है। इस विधि में यह विशेषता है कि इसमें राज्य-हस्ती, राज्य-अश्व आदि के भी पदारोपण का उल्लेख मिलता है। ऐसा लगता है कि वर्धमानसूरि ने उस युग में प्रचलित व्यवस्था से ही इन विधियों का ग्रहण किया है। जहां तक प्रतिष्ठा विधि, शांतिक कर्म, पौष्टिक कर्म एवं बलि विधान का प्रश्न है, ये चारों ही विधियां मेरी दृष्टि में जैनाचार्यों ने हिन्दू परम्परा से ग्रहीत करके उनका जैनीकरण मात्र किया गया है। क्योंकि प्रतिष्ठा विधि में तीर्थंकर परमात्मा को छोड़कर जिन अन्य देवी देवताओं जैसे- दिग्पाल, नवग्रह, क्षेत्रपाल, यक्ष-यक्षिणी आदि के जो उल्लेख हैं, वे हिन्दू परम्परा से प्रभावित लगते हैं या उनके समरूप भी कहे जा सकते हैं। ये सभी देवता हिन्दू देव मण्डल से जैन देव मण्डल में समाहित किए गए हैं। इसी प्रकार कूप, तडाग, भवन आदि की प्रतिष्ठा विधि भी उन्होंने हिन्दू परम्परा से ही ग्रहण की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्धमानसूरि ने एक व्यापक दृष्टि को समक्ष रखकर जैन परम्परा और तत्कालीन समाज व्यवस्था को प्रचलित विविध विधि-विधानों का इस

ग्रंथ में विधिवत् और व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत किया है। जैन धर्म में उनसे पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों ने साधु जीवन से सम्बंधित विधि-विधानों का एवं जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा से सम्बंधित विधि-विधान पर तो ग्रंथ लिखे थे, किंतु सामाजिक जीवन से सम्बंधित संस्कारों के विधि-विधानों पर इतना अधिक व्यापक और प्रामाणिक ग्रंथ लिखने का प्रयत्न सम्भवतः वर्धमानसूरि ने ही किया है। वस्तुतः जहां तक मेरी जानकारी है। समग्र जैन परम्परा में विधि-विधानों को लेकर आचारदिनकर ही एक ऐसा आकर ग्रंथ है जो व्यापक दृष्टि से एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर विधि-विधानों का उल्लेख करता है।

आचारदिनकर विक्रमसंवत् १४६८ तदनुसार ई.सन् १४९२ में रचित है। यह ग्रंथ मूलतः संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में होने के कारण आधुनिक युग में न तो विद्वत ग्राह्य था और न जनग्राह्य। यद्यपि यह ग्रंथ अपने मूल स्वरूप में प्रकाशित भी हुआ, किंतु अनुवाद के अभाव में लोकप्रिय नहीं बन सका। दूसरे ग्रंथ की भाषा संस्कृत एवं प्राकृत होने के कारण तथा उनमें प्रतिपादित विषयों के दुरूह होने के कारण इस सम्पूर्ण ग्रंथ का हिन्दी या गुजराती में आज तक कोई अनुवाद नहीं हो सका था। ग्रंथ के प्रथम खण्ड का पुरानी हिन्दी में रूपान्तरण का एक प्रयत्न तो अवश्य हुआ, जो जैन तत्त्व प्रसाद में छपा भी था, किंतु समग्र ग्रंथ अनुदित होकर आज तक प्रकाश में नहीं आ पाया। साध्वी मोक्षरत्ना श्रीजी ने ऐसे दुरूह और विशालकाय ग्रंथ का हिन्दी भाषा में रूपान्तरण का जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसके लिए वे निश्चित ही बधाई की पात्र हैं। इस ग्रंथ के अनुवाद के लिए न केवल भाषाओं के ज्ञान की ही अपेक्षा थी, अपितु उसके साथ-साथ ज्योतिष एवं परम्परा के ज्ञान की भी अपेक्षा थी। साथ ही हमारे सामने एक कठिनाई यह भी थी कि जो मूलग्रंथ प्रकाशित हुआ था, वह इतना अशुद्ध छपा था कि अर्थ बोध में अनेकशः कठिनाईयां उपस्थित होती रही, अनेक बार साध्वीजी और मैं उन समस्याओं के निराकरण में निराश भी हुए, फिर भी इस ग्रंथ का प्रथम खण्ड पूर्ण होकर प्रकाशित हो रहा है यह संतोष का विषय है। ग्रंथ तीन खण्डों में प्रकाशित करने की योजना है। इसका प्रथम खण्ड विद्वानों और पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। दूसरे और तीसरे खण्ड का अनुवाद भी पूर्ण हो चुका है, उनके कुछ अंश स्पष्टीकरण या परिमार्जन हेतु पूज्य मुनि प्रवर जम्बूविजयजी और मुनि श्रीयशोविजयजी को भेजे गए हैं, वे अंश उनके द्वारा संशोधित होकर मिलने पर अग्रिम दो खण्डों के प्रकाशन को भी गति मिलेगी। पूज्या साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी इसी प्रकार आगे भी जिनवाणी के अध्ययन, अनुशीलन और प्रकाशन में रूचि लेती रहें, यही

अपेक्षा है। विद्वतजन जिस कार्य को चाहकर भी अभी तक सम्पन्न नहीं कर पाए थे, उसे मेरे सहयोग से एक अल्प दीक्षापर्याय की युवा साध्वी ने अथक परिश्रम कर पूर्ण किया यह मेरे लिए भी आत्मतोष का विषय है। वस्तुतः मैंने उन्हें शोधकार्य हेतु इस ग्रंथ का नाम सुझाया था, किंतु अनुवाद के बिना यह कार्य शक्य नहीं हो रहा था। हमने अनुवाद की प्राप्ति के प्रयास भी किए, किंतु वे सार्थक नहीं हो सके। अतः प्रथमतः अनुवाद की योजना बनाई गई, प्रस्तुत कृति उसी की फलश्रुति है। विद्वत्वर्ग द्वारा इसके समुचित मूल्यांकन की अपेक्षा है, ताकि साध्वीजी का उत्साह वर्धन हो।



प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा—मुम्बई मार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ—साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी हैं। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी नियमित आती हैं।

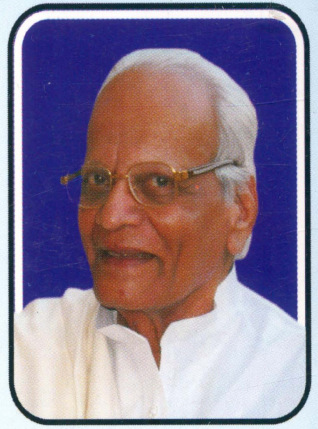
इस परिसर में साधु—साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन—अध्यापन के साथ—साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

शोधकार्य के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रूप में मान्यता प्रदान की गई है।

डॉ. सागरमल जैन

जन्म : दि. 22.02.1932
जन्म स्थान : शाजापुर (म.प्र.)
शिक्षा : साहित्यरत्न : 1954
एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963
पी-एच.डी. : 1969



अकादमिक उपलब्धियाँ :

प्रवक्ता (दर्शनशास्त्र) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा: 1964-67
सहायक प्राध्यापक म.प्र. शास. शिक्षा सेवा : 1968-85
प्राध्यापक (प्रोफेसर) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा : 1985-89
निदेशक,
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी : 1979-1987 एवं 1989-1997
लेखन : 49 पुस्तकें
सम्पादन : 160 पुस्तकें
प्रधान सम्पादक : जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ
विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना)

पुरस्कार :

प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार : 1986 एवं 1998
स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार : 1987
डिप्टीमल पुरस्कार : 1992
आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान : 1994
विद्यावारधि सम्मान : 2003
प्रेसीडेन्सीयल अवार्ड ऑफ जैना यू.एस.ए : 2007
वागार्थ सम्मान (म.प्र. शासन) : 2007
गौतम गणधर सम्मान (प्राकृत भारती) : 2008
आर्चाय तुलसी प्राकृत सम्मान : 2009
विद्याचन्द्रसूरी सम्मान : 2011
समता मनीषी सम्मान : 2012

सदस्य : अकादमिक संस्थाएँ

: पूर्व सदस्य - विद्वत परिषद, भोपाल
विश्वविद्यालय, भोपाल
सदस्य - जैन विश्वभारती संस्थान,
लाडनूँ
: पूर्व सदस्य - मानद निदेशक, आगम,
अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान,
उदयपुर।

सम्प्रति

: संस्थापक - प्रबंध न्यासी एवं निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

विदेश भ्रमण

: पूर्वसचिव:पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
: यू.एस.ए. , शिकागों, राले, ह्यूटन,
न्यूजर्सी, उत्तरीकरोलीना, वाशिंगटन,
सेनफ्रांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फिनीक्स,
सेंट लूईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टों, (कनाडा)
न्यूयार्क, लन्दन (यू.के.) और काटमाडूँ
(नेपाल)